अध्याय 2

हिन्दी काव्य का विकास क्रम और विवेच्य काल में प्रशस्ति की सम्भावना

हिन्दी भारतीय भाषाओं की विकास परम्परा के विचार से तृतीय चरण की भाषा है । संस्कृत की प्रथम, प्राकृत भाषाओं की द्वितीय अथवा मध्यकालीन सम्भाग की भाषा स्वीकार करने के उपरान्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में हिन्दी का व्यापक और महत्वपूर्ण स्थान सर्व स्वीकृत है । सामान्य धारणा यह है कि जब भाषाएं विकसित होकर व्यवहारिकता में व्याप्त हो जाती हैं तब उनकी दृष्टि से लेखकीय धर्म का निर्वाह करने वाले कवियों की लेखनी से साहित्य की सर्जना की शुरुआत होती है । मैं कहना यह चाहती हूँ कि भाषा के उदर से उद्भूत साहित्य भाषा के बाद जन्मता है । हिन्दी साहित्य के साथ भी वही संगति बैठती है जो सिद्धान्ततः सभी भाषाओं के लिए है ।

हिन्दी साहित्य के रचनाशील धर्म के अनुकूल होने के पहले यह भाषा कुछ समय तक मौखिक व्यवहार की स्वच्छ अवस्था रही होगी और जब हिन्दी साहित्य के उद्भव के प्रश्न पर एक वर्ग यह मान चुका है कि इसमें साहित्यिक रचनाओं का समारम्भ सातवीं शताब्दी से ही हो जाता है, तो हिन्दी मौखिक व्यवहार में इससे पहले अवश्य रही होगी । जो भी हो भाषा के विषय में यदि हम चर्चा न भी करें, तो भी इसके साहित्य के उद्भव की ऐतिहासिकता का वैज्ञानिक विश्लेषण विवेच्य विषय की दृष्टि से अनिवार्य है । जहाँ तक साहित्य के उद्भव का प्रश्न है वह भी समानान्तर दो खेमों में बंटा हुआ है इसलिए 'हिन्दी साहित्य के आरम्भ काल पर विद्वानों में दो वर्ग हैं - एक वर्ग हिन्दी साहित्य का आरम्भ काल 7वीं 8वीं शताब्दी से मानता है तो दूसरा वर्ग 11वीं शताब्दी से । पहले वर्ग में ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु, राहुल, डा० काशी प्रसाद और डा० रामकुमार वर्मा हैं और दूसरे वर्ग में आचार्य शुक्ल, डा० श्याम सुन्दर दास, पंडित सूर्यकान्त शास्त्री, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि आते हैं । दोनों वर्गों में हिन्दी साहित्य के आरम्भ काल के विषय में जो मतभेद है उसका आधार हिन्दी भाषा के उद्भव काल से ही सम्बन्धित है । हिन्दी का अपभ्रंश से अभेद मानने वाले इसका प्रारम्भ 500 ई० और हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ काल 7वीं 8वीं शती मानते हैं ।[1]

1• सं० - डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : साहित्य और संस्कृति : पृ० 173

डा० अग्रवाल ने अपने इस मत का प्रतिपादन करते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जो अपभ्रंश को हिन्दी से अलग करते हैं वे मतिभ्रम का शिकार हो गए हैं ।[1] कारण यह है कि आचार्य शुक्ल अपभ्रंश को प्राकृत की अन्तिम अवस्था मानकर उसे 'प्राकृताभास हिन्दी' नाम देते हैं । इस प्रकार शुक्ल जी अपभ्रंश को प्राकृत भी मानते हैं और हिन्दी भी । डा० अग्रवाल के अनुसार शुक्ल जी का यह वक्तव्य 'परस्पर विरोधी' है । उनकी दृष्टि से इस दिशा में क्रान्तिकारी कदम डा० रामकुमार वर्मा ने उठाया । उन्होंने अपने इतिहास में हिन्दी साहित्य का आरम्भ 700 ई० के आसपास माना और 750 से 1200 की अवधि को हिन्दी के आदिकाल के रूप में स्वीकार कर उसे सन्धिकाल की संज्ञा दी ।[2] पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने अपभ्रंश को हिन्दी का रूप मानने पर जोर देते हुए लिखा - "यदि यह भाषा (साहित्यिक अपभ्रंश) हिन्दी नहीं है तो ब्रज भाषा भी नहीं है और तुलसीदास की उक्तियाँ भी हिन्दी नहीं हैं । जहाँ तक नाम का प्रश्न है, गुलेरी जी का सुझाव पण्डितों को मान्य नहीं हुआ है । अपभ्रंश को कोई भी पुरानी हिन्दी नहीं कहता परन्तु जहाँ तक परम्परा का सम्बन्ध है निःसन्देह हिन्दी का परवर्ती साहित्य अपभ्रंश साहित्य से क्रमशः विकसित हुआ है ।"[3]

सचमुच हिन्दी साहित्य के उद्भव की समस्या अपभ्रंश भाषा के हिन्दी में रूपान्तरित होने की समस्या से सीधी जुड़ी हुई है, दूसरी ओर बदल रही राजनीतिक परिस्थितियाँ संक्रमणकालीन जीवन मूल्यों को रूप देने के लिए अभिव्यक्ति का नया पन्थ खोज रही थीं । इसलिए यह भी माना गया है कि 'भारत में हिन्दी का आदिकाल उस समय आरम्भ होता है जब देश में पूर्ण रूप से अशान्ति थी । विभिन्न विचारधाराएं देश में गतिशील थीं । इस काल का साहित्य देश की किसी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति का परिणाम है । x x x x आदिकाल में जिस साहित्य का निर्माण हुआ वह जनमानस से दूर था । उनका काव्य सृजन राजाओं और दरबारों तक ही सीमित रहा । उन्होंने अपने स्वामियों का गुणगान किया । वैभव का चित्रण किया । उनकी वीरता के गीत गाए ।'[4] उक्त धारणा व्यक्त करते हुए डा० हंस ने यह कहा है -

---

1- साहित्य और संस्कृति : पृ० - 173

2- वही, पृ० - 174

3- हिन्दी साहित्य : पृ० 16 - 17

4- डा० कृष्णलाल हंस : हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास : पृ० 13

'मेरी दृष्टि से हिन्दी का आदि काल अपभ्रंश कवि सरहपा (सं0 990) से प्रारम्भ होता है और 1375 तक माना जाना चाहिए । मिश्र बन्धुओं ने भी 800 सम्वत् से आदिकाल का प्रारम्भ माना है । आचार्य चतुरसेन शास्त्री 9वीं शती से आदि काल का प्रारम्भ मानते हैं । रामचन्द्र शुक्ल आदिकाल का प्रारम्भ 1050 मानकर उसे 1350 तक ले जाते हैं ।'[1अ] यह सब कहते हुए उन्होंने यह माना है कि 'साहित्य के स्वरूप की दृष्टि से पूर्ण आदि काल (690 - 1375 तक) को काल खण्डों में विभक्त करना उचित होगा - अपभ्रंश काल 690 - 1050 और वीरगाथा काल अथवा चारण काल 1050-1375 तक । संक्षेप में हम इसे हिन्दी के आदि काल का पूर्वार्ध और उत्तरार्ध भी कह सकते हैं ।'[1ब]

हिन्दी के उद्भव का प्रसंग लेकर विद्वानों में बड़ी खींचतान दिखाई पड़ती है । डा0 हरीश स्वीकारते यह है कि - 'अपभ्रंश भाषा के साहित्य का उद्भव यद्यपि विद्वानों ने चौथी पाँचवीं शताब्दी से सं0 1000 तक निर्धारित कर दिया है परन्तु वास्तव में इस साहित्य का सिंहावलोकन करने पर ज्ञात हो जाता है कि उद्भव काल में उपलब्ध रचनाएँ बहुत पुष्ट प्रतीत नहीं होतीं । अपभ्रंश साहित्य के परिशीलन के लिए इसके इतिहास को दो कालों में विभक्त किया जा सकता है । x x x 5वीं से 8वीं शताब्दी तक का साहित्य ठीक से उपलब्ध नहीं हो पाया है । इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस काल में साहित्य रचना हुई ही नहीं अपितु इसके लिए एक जोवट पूर्ण शोध की आवश्यकता है ।'[2] डा0 हरीश ने हिन्दी साहित्य के उद्भव के सन्दर्भ में अपभ्रंश साहित्य की अनुपलब्धता पर प्रश्न उठाकर इस विषय पर पुनः अनुसंधान पर बल दिया है । मैं समझती हूँ कि उनकी बात में, निर्णय लेने के लिए ठोस प्रमाणों के उपलब्ध होने की सम्भावना है । यद्यपि आदिकालीन साहित्य पर उद्भव के विचार से मतैक्य असम्भव ही है ।

हिन्दी के उद्भव काल के विषय में डा0 वासुदेव सिंह भी विद्वानों के दो वर्ग मानते हैं । उनके अनुसार 'एक वर्ग हिन्दी साहित्य का आदिकाल 7वीं-8वीं शती से मानता है और दूसरा वर्ग 10वीं-11वीं शती से । प्रथम वर्ग के लोग हैं - मिश्रबन्धु, गुलेरी जी, राहुल जी, काशीप्रसाद जायसवाल । दूसरे वर्ग में - आचार्य शुक्ल, डा0 हजारीप्रसाद द्विवेदी और डा0 धीरेन्द्र वर्मा हैं ।'[3]

1- (अ) डा0 कृष्णलाल हंस : हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास : पृष्ठ - 13
(ब) वही, पृष्ठ - 14

2- आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध : पृष्ठ - 1-2

3- हिन्दी साहित्य का उद्भव काल : पृष्ठ - 10

इधर नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने इतिहास का जो नया सम्पादन कराया है उसमें 'विक्रम की 8वीं से लेकर 10वीं शती तक मोटे तौर पर अपभ्रंश काल माना गया है पर अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ इससे पूर्व और 16वीं शती तक मिलती हैं। अपभ्रंश के स्पष्ट चिह्न कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक की पुरूरवा की उन्मादोक्तियों में देखे जाते हैं जिन्हें अपभ्रंश साहित्य का आदि रूप मान सकते हैं। 8वीं शती के उत्तरार्ध में रचित उद्योतन सूरि की कुवलयमाला में अपभ्रंश गद्य-पद्य का स्वरूप दिखाई पड़ता है।'[1] इस इतिहास में 6वीं से लेकर 16वीं शती तक अर्थात् 1000 वर्ष के लम्बे काल खण्ड में आदि काल के उद्भव और समापन के मध्य अपार साहित्य इतस्ततः विकीर्ण है।

इतिहास पर लिखे गये इन नूतन ग्रन्थों में विश्लेषण का आधार मिश्र बन्धु विनोद, आचार्य शुक्ल और डा० रामकुमार वर्मा के इतिहास ग्रन्थ, शिवसिंह सेंगर के शिवसिंह सरोज, राहुल जी के हिन्दी साहित्य और डा० हजारीप्रसाद के हिन्दी साहित्य का आदिकाल का वस्तु सम्पदा को ही प्रायः आधार माना गया है। डा० रामकुमार वर्मा ने हिन्दी साहित्य का आरम्भ 7वीं शती से मानते हुए राजा भोज के पूर्व पुरुष राजा मान के दरबारी कवि पुष्य के बनाए हुए रीति और अलंकार सम्बन्धी ग्रन्थ का उल्लेख किया है। पुष्य कवि के लक्षण ग्रन्थ का उल्लेख शिव सिंह सेंगर ने 'शिव सिंह सरोज' में किया है। यह ग्रन्थ अप्राप्य है। पुष्य कवि द्वारा रचित तथाकथित लक्षण ग्रन्थ को हिन्दी साहित्य का आदि ग्रन्थ मानने में हिन्दी साहित्य का आरम्भ 7वीं शती से भी पहले माना जा सकता है। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने सं० 900 से हिन्दी साहित्य का आरम्भ स्वीकार किया है। उनके मत में सिद्ध सरहपा हिन्दी के प्रथम कवि हैं। डा० श्यामसुन्दर दास, आचार्य शुक्ल और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान् हिन्दी साहित्य का आरम्भ विक्रम की 11वीं शताब्दी से मानते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का आरम्भ सं० 1050 से ही माना है। अधिकांश इतिहास लेखक उनसे सहमत हैं।[2] इस साथ इन कई प्राचीन विद्वानों के विचार धाराओं के अवलोकन से काल निर्धारण और उद्भव का वह दूसरा पक्ष भी खुलकर सामने आ जाता है जिसे मान लेने पर आदि काल की परिधि सीमित होकर मात्र

1- सं० डा० राजबली पाण्डेय : हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास : भाग-1 : अध्याय-3 : पृ०-329

2- डा० गोविन्द राम शर्मा : हिन्दी साहित्य और उसकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ : पृ० - 24-25

300 वर्ष रह जाता है । अथवा उसे बढ़ा कर 16वीं शताब्दी तक ले भी जाया जाय तो भी मुश्किल से इसका कलेवर 600 वर्ष का बनाया जा सकता है ।

डा0 उदयनारायण तिवारी ने वीर काव्य की परम्परा का अनुशीलन करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि वास्तव में सम्राट हर्षवर्धन के राजत्व काल से ही देशी भाषाओं का महत्व आरम्भ होता है । अतएव हिन्दी साहित्य के आरंभ का युग भी इसी समय को मानना समीचीन होगा ।[1]

गुलेरी जी ने जिसे पुरानी हिन्दी बताया है वह यही अपभ्रंश है[2] जिसमें सिद्धों-नाथों की साहित्य साधना का विशाल भण्डार भरा पड़ा है । हजारीप्रसाद जी ने इस अपभ्रंश साहित्य पर आस्था व्यक्त करते हुए यह स्वीकार किया है कि इसका साहित्य 5वीं 6वीं शताब्दी में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान था । वे यह भी मानते हैं कि इस काल में उत्तर पश्चिम की ओर से कई नयी जातियों का आगमन होने से इस देश की भाषा में नये परिवर्तन, नये तत्व, और कविता के नवीन कौशल का सूत्रपात हुआ । अनुमान किया गया है कि यही अपभ्रंश भाषा में पाई जाने वाली रूढ़ियों को क्योंकि आगे चल कर डिंगल कविता को जन्म दी गयी ।[3] इसके विपरीत हिन्दी साहित्य की परम्परा को ऋग्वेद से जोड़ने वाले लोग भाषिक संरचना के विचार से हिन्दी साहित्य की परम्परा का उद्भव एवं विकास 10वीं शताब्दी के साहित्यिक प्रयत्नों में स्वीकार करते हैं ।[4] उन्होंने आचार्य शुक्ल द्वारा दिए गए आदिकालीन साहित्य के प्रति संदेह का उल्लेख करते हुए यह कहना चाहा है कि उस काल में अपभ्रंश के चार और देशभाषा के आठ प्रमुख ग्रन्थ उपलब्ध हुए थे । यह भी ध्यातव्य है कि जहाँ डा0 रामकुमार जी पुष्य को हिन्दी का आदि कवि मानते हैं वहीं राहुल जी अपभ्रंश की रचनाओं को हिन्दी की रचना मानते हुए अपभ्रंश के कवि स्वयंभू को हिन्दी का प्रथम कवि तथा उनकी कृति पउम चरिउ (रामायण) को हिन्दी का प्रथम एवं उत्तम काव्य ग्रन्थ माना है ।[5] किन्तु आगे चल कर

1- वीर काव्य : पृ0 - 34
2- नागरी प्रचारिणी पत्रिका : नया संस्करण : भाग-2
3- डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल : संस्करण-3 : पृ0 99-100
4- डा0 जयकिशन प्रसाद : हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ : पृष्ठ-3
5- वही, पृष्ठ-4

डा० जयकिशन जो हिन्दी भाषा के साहित्य उपयोग का सूत्रपात 10वीं शताब्दी से मानते हैं। उनका विचार है कि - 10वीं से 14वीं शताब्दी तक का साहित्य 10वीं शती के पूर्ववर्ती परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा के साहित्य का ही विकास है।[1]

हिन्दी साहित्य की उद्भावक स्थितियों का अवलोकन करते हुए डा० महेन्द्र दूबे भी इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि - अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी मानने वाले लोग हिन्दी साहित्य का आरम्भ 7वीं 8वीं शताब्दी से मानते हैं, जबकि दूसरे लोग हिन्दी साहित्य का आरम्भ 10वीं 11वीं शती से मानते हैं। अपने वक्तव्य को निष्कर्षित करते हुए डा० दूबे प्रवृत्तिगत महिमा के कारण हिन्दी साहित्य का आरम्भिक काल या आदि काल 10वीं सदी से लेकर 15वीं सदी तक मानना उचित समझते हैं।[2] लोग यह भी मानते हैं कि अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का पुराना पता तान्त्रिक और बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर मिलता है। मुन्ज और भोज के समय सम्वत् 1050 के लगभग में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य रचनाओं में पाया जाता है। किन्तु प्रश्न यह है कि यदि अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी मानना ही है तो फिर सं० 700 में रचित अपभ्रंश रचनाओं को क्यों न परिगणित कर लिया जाय, किन्तु यह प्रवृत्ति उचित प्रवृत्ति नहीं होगी इसलिए अन्य भारतीय आर्य भाषाओं के समान हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का प्रादुर्भाव भी ईसा की 13वीं शताब्दी में हुआ माना जाना चाहिए।[3] हिन्दी साहित्य के उद्भव की उहापोह में राहुल जी भी कुछ सन्दिग्ध वक्तव्य दे गए हैं। वे 8वीं शती से अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी और इस काल को सिद्ध-सामन्त काल मानते हैं, किन्तु इसकी दूसरी सीमा के रूप में उनका ध्यान 13वीं शती पर अटक जाता है। डा० शर्मा के अनुसार आचार्य द्विवेदी हिन्दी का विकास लगभग 13वीं शताब्दी में स्वीकार करते हैं।[4]

अब तक हमने हिन्दी-साहित्य के समारम्भ को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में दिए गए प्रमुख विद्वानों एवं इतिहासकारों के जो विचार उद्धृत किए हैं उनमें किसी प्रकार की एकता की कतई गुंजायश नहीं है। इन विद्वानों की मान्यताओं का आधार लेकर

1- डा० जयकिशन प्रसाद : हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां : पृष्ठ-28.
2- हिन्दी साहित्य का आदिकाल शीर्षक निबन्ध से उद्धृत।
3- डा० शिवकुमार शर्मा : हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियां : पृष्ठ-8-9
4- वही, पृष्ठ - 15

देखने पर आदि काल के उद्भव के सम्बन्ध में इनके चार शिविर सामने आते हैं -

(अ) 5वीं - 6वीं शती में हिन्दी का समारम्भ मानने वाले विद्वानों में डा० राजबली पाण्डेय, डा० उदयनारायण तिवारी, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी और पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के नाम आते हैं। यद्यपि इनमें से गुलेरी जी और डा० द्विवेदी के विचार, विकास के अन्य शिविर के साथ भी संबद्ध हैं इसलिए इनका नाम दूसरे खेमों में भी रखा गया है।

(ब) 7वीं 8वीं शताब्दी को हिन्दी का समारम्भ काल स्वीकारने वालों में ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु, राहुल जी, डा० काशीप्रसाद, डा० रामकुमार वर्मा और डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके साथ 7वीं - 8वीं शताब्दी में हिन्दी के उद्भव को पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने भी अपना समर्थन दिया है।

(स) 9वीं शती में भी कुछ लोग हिन्दी के उद्भव काल की स्थापना करना चाहते हैं। इसके पक्ष में चतुरसेन शास्त्री के अतिरिक्त काशीप्रसाद जायसवाल भी हैं। उल्लेखनीय है कि काशीप्रसाद जायसवाल हिन्दी का उद्भव 7वीं-8वीं शताब्दी में भी एहसासते रहे।

(द) 10वीं - 11वीं शती के हिन्दी भाषा और साहित्य के उद्भव और विकास का सम्मत साहित्य के सामान्य विद्यार्थियों के बीच स्वीकृत है। हो सकता है कि यह स्वीकृति आचार्य शुक्ल के ग्रन्थ के प्रभाव का परिणाम हो। किन्तु आचार्य शुक्ल के अतिरिक्त डा० श्याम सुन्दरदास, पण्डित सूर्यकान्त शास्त्री, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० कृष्णलाल हंस, गुलेरी जी, डा० महेन्द्रनाथ दुबे और डा० धीरेन्द्र वर्मा भी इस मत का समर्थन करते हैं।

(य) 13वीं शती तक इस अनिश्चय को बढ़ाकर यह भी मानने का प्रयास किया गया है कि हो-न-हो अपनी सम्पूर्णता के साथ हिन्दी का उद्भव अन्य भारतीय भाषाओं की भाँति 13वीं शती में ही मानना उचित हो। डा० शिवकुमार शर्मा ने स्पष्ट रूप से इस मत के पक्ष में अपना वक्तव्य दिया है। राहुल जी एवं डा० हजारी प्रसाद जी ने प्रकारान्तर से इसका समर्थन भी किया है।

<u>मतभेद के कारण :-</u> 5वीं 6वीं शताब्दी में जिस अपभ्रंश भाषा को हिन्दी का आदिम रूप स्वीकारने की ओर संकेत किया गया है, वह पूर्णतया अव्यवस्थित और अस्थिर भाषा थी।

हिन्दी का आदिकाल अपनी जिन वीर गाथाओं के लिए सुख्यात और उपादेय है उसका तो इस काल में लेशमात्र भी नहीं मिलता । यह भी सत्य है कि 5वीं 6वीं शताब्दी से लेकर 7वीं 8वीं शताब्दी तक रचे गये साहित्य की सुलभता और प्रामाणिकता भी खटाई में पड़ी हुई है । इसलिए भी सम्भवतः विद्वानों ने 7वीं 8वीं शताब्दी से हिन्दी का उद्भव स्वीकारने पर विचार करना आवश्यक समझा हो । किन्तु यदि 7वीं 8वीं शताब्दी से हिन्दी का समारम्भ माना जाये तो कठिनायी सामने यह आती है कि हिन्दी के आदि काल की समस्त प्रमुख प्रवृत्तियाँ यहाँ समुत्पन्न ही नहीं हो पाई थीं । और वे प्रवृत्तियाँ तो बिल्कुल ही नहीं थीं जिनके बूते पर हिन्दी का आदिकालीन साहित्य लोकमानस में प्रतिष्ठित हुआ है । राहुल सांकृत्यायन और डा० काशीप्रसाद ने 100 वर्ष आगे बढ़कर हिन्दी के आविर्भाव काल की प्रतिष्ठा की है । डा० जायसवाल ने सिद्ध सरहपा की रचनाओं को ही अपभ्रंश की स्वरोदित कृति के रूप में स्वीकृति देकर उन्हें आदिकाल का प्रथम कवि माना है । किन्तु सिद्ध शीर्षपाद ने जिस वस्तु एवं उपस्थापन का विनियोग जिस अपभ्रंश भाषा में किया है उसकी परम्परा के बीज और उनका विकास 7वीं 8वीं शताब्दी में प्रारम्भ हो चुका था इसलिए इस मत में प्रवृत्ति के प्रति उपेक्षा और व्यक्ति के प्रति मोह दिखाई पड़ रहा है । हिन्दी के आदिकाल के उद्भव के रूप में 10वीं 11वीं शताब्दी पर जोर देने वाले विद्वानों के विचारधाराओं में विशेष बल दिखाई पड़ता है । इस काल तक आते-आते आदिकाल की उभय भाषाएँ और उभय प्रवृत्तियों के चित्र स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आ चुके थे । सम्भवतः इसीलिए यह कालावधि आदिकाल के आरम्भ को रेखांकित करने में अधिक युक्तियुक्त है । अधिकांश विद्वान एवं विचारक ही नहीं साहित्य के सामान्य विद्यार्थी भी इस मत को मानने में दुविधा का अनुभव करते हैं । और यह दुविधा सकारण है, अकारण नहीं । राहुल एवं हजारीप्रसाद जी ने 13वीं शती से भी हिन्दी के उद्भव मान लेने के संकेत दिए हैं । डा० द्विवेदी ने आचार्य हेमचन्द्र को उद्धृत करते हुए दो प्रकार की अपभ्रंश भाषा की ओर ध्यान आकृष्ट किया है । उनका कहना है कि - दूसरी कोटि की ग्राम्य अपभ्रंश ही आगे चलकर आधुनिक देशी भाषाओं में रूपान्तरित हो गयी है । हेमचन्द्र का काल 1088 से 1172 के मध्य पड़ता है । किन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन में जिस अनियन्त्रित ग्राम्य अपभ्रंश को व्याकरण नियमों से नियन्त्रित किया, क्या यह वही अपभ्रंश नहीं है जिसकी ओर द्विवेदी जी संकेत करते हैं ? ऐसी स्थिति में इस मत को निःसंकोच स्वीकारा नहीं जा सकता ।

विद्वानों के बीच हिन्दी भाषा और साहित्य के उद्भव के काल निर्धारण को लेकर जो मतभेद है उसके कारण को मैं देख चुकी हूँ। किन्तु हमारा विषय इस विवाद में पड़ने से स्पष्ट नहीं होगा अपितु आदिकाल के नाम पर अपभ्रंश और डिंगल भाषाओं में धर्म और सामन्तीय बोध को लेकर रची गयी जो रचनाएं सर्वमान्य और उपलब्ध हैं और जो इस युग की काव्यात्मक उपलब्धि को आज तक उजागर करती आई हैं, उनमें से प्रमुख कृतियों के सन्दर्भ में प्रशस्ति भावना का अनावरण करना ही हमारा लक्ष्य है। स्पष्ट है कि 5वीं 6वीं शती से 14वीं शती के बीच की वे सभी प्रमुख रचनाएं हमें देखनी-परखनी होंगी, जो अपनी दुर्लभता में प्रामाणिकता भी रखती हैं।

काल विभाजन एवं नामकरण

मानवीय संवेदना कालगत प्रभाव से अपने बहिरंग पक्ष में भले ही परिवर्तित दिखाई पड़ती हो, किन्तु अनादिकाल से चलते आ रहे मनुष्य संज्ञक प्राणी की आन्तरिक अनुभूतियां अपनी एकरसता तो, अनेक चोटें सहकर भी अक्षुण्ण बनाए हुए है। जिस व्यक्ति, समाज अथवा जन समुदाय में यह अनादि धारणाएं जितनी ही अधिक अकृत्रिम अथवा शुद्ध हैं, वह व्यक्ति या समाज उतनी ही मात्रा में अधिक संवेदनशील और मूल मानवीय संस्कारों से सम्पन्न होगा। यह बात कह कर हम विकास क्रम की महिमा को आरोपित नहीं करना चाहते हैं किन्तु हम यह अवश्य स्पष्ट करने जा रहे हैं कि काल क्रम से उदित होने वाली नूतन सभ्यताएं मानवीय संस्कार अथवा संस्कृति को एक नए मोड़ तक लाकर छोड़ देती हैं। ऐसा समय संक्रमण का समय होता है। इस देश में एक समय ऐसा भी आया है जब भारत का चिरन्तन वैदिक धर्म अथवा दर्शन की कुक्षि से उत्पन्न होने वाले जैन और बौद्ध धर्मों से प्रताड़ित होकर कुण्ठित होने लगा। धर्म और दर्शन की इस रीढ़ के टूट जाने के कारण वेद विरोधी नास्तिक धर्म के प्रसार से वर्णसंकरता को बढ़ावा मिला। भारत की ऐन्द्रिय अखण्ड राजसत्ता बिखरा कर छोटी-छोटी रियासतों इकाइयों में समूचे हिन्दी प्रदेश के बीच फैल गयी। दूसरी दिशा में मध्यकालीन आर्य भाषा के निरंकुश प्राकृत रूप से नयी देशी भाषाएं उत्पन्न और विकसित होने लगीं। लोग मानते हैं कि सभ्यता, संस्कृति, भाषा, धर्म, राजनीति आदि जीवन के सभी आयामों में एक साथ अनिश्चय का जिस समय वातावरण बना, हिन्दी अपने आदिम रूप में उसी समय जन्म कर आंख खोलने लगी थी। हिन्दी के उद्भव पर

चर्चा करते हुए हमने यह देखा कि विद्वानों ने इसे 5वीं 6वीं शती से लेकर 13वीं शती तक के बीच में स्वीकारने की दलीलें दी हैं ।

यह बताया जा चुका है कि हिन्दी के नाम पर पूर्ण अथवा आंशिक रूप से जिस भाषा और साहित्य को मान्यता दी गयी है वह द्विवर्गीय है -

(अ) अपभ्रंश भाषा में सिद्धों - नाथों का धार्मिक साहित्य ।
(ब) डिंगल भाषा में चारणों की वीर गाथाएं ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आदिकालीन काव्य के विकास का काल विभाजन और उसके नामकरण के औचित्य की विचार चर्चा अक्षरशः इन्हीं दो बिन्दुओं पर निर्भर करती है ।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हिन्दी साहित्य की विषयगत और भाषागत प्रवृत्तियों को देखते हुए काल विभाजन की समस्या पर सर्व प्रथम ध्यान जार्ज ग्रियर्सन का गया है । इन्होंने 700 से 1300 ई0 तक चारण काल और इसके आगे के काल में 15वीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण जायसी की प्रेम कविता आदि को माना है[1] जो विवेच्य विषय से सम्बंध नहीं रखता । मिश्र बन्धुओं ने आरम्भिक काल का 700 विक्रमी से 1444 विक्रमी तक प्रसार मानते हुए इस लम्बी अवधि को दो भागों में विभाजित किया है -

(अ) पूर्व आरम्भिक काल (700 से 1343 वि0 तक)
(ब) उत्तर आरम्भिक काल (1344 से 1444वि0)

उक्त दोनों वर्गीकरणों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि मिश्र बन्धुओं का वर्गीकरण संगत और सुपुष्ट है । दोष के नाम पर सिर्फ इतनी ही आपत्ति उठायी जा सकती है कि मिश्र बन्धुओं ने 7 से 13 शती के बीच के समस्त अपभ्रंश साहित्य को निश्चित रूप से हिन्दी के अन्तर्गत स्वीकार किया है । काल विभाजन की इस प्रक्रिया में अधिक विवादित और बहुसमर्थित मत आचार्य पं0 रामचन्द्र शुक्ल का है । वे आदिकाल को 1050 से 1375 तक मानते हुए चारणों की रचनाओं के आलोक में इसे वीरगाथा

1- डा0 शिवकुमार शर्मा : हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियां : पृष्ठ - 2

काल के नाम से उल्लिखित करते रहे । आचार्य शुक्ल के इस काल विभाजन में भाषागत प्रवृत्ति के विचार से दोष है क्योंकि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास 12वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में देखा जाता है । शुक्ल जी ने अपभ्रंश साहित्य को पुरानी हिन्दी या प्राकृताभास के नाम पर अपभ्रंश को हिन्दी में समेटने की कोशिश की है जो बहुत समीचीन नहीं है । यह भी विचारणीय है कि शुक्ल जी ने जिन रचनाओं का आधार लेकर वीरगाथा काल का नामकरण किया है वे रचनाएं प्रायः दुर्लभ हैं और यदि सुलभ हैं तो परवर्ती काल की सिद्ध की जा चुकी है । ऐसी स्थिति में शुक्ल जी के काल विभाजन को सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार करने में विद्वानों ने संकोच प्रदर्शित किया है ।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी के आदि काल को वीरगाथा काल का नाम तो अवश्य दे दिया किन्तु उनके अनुसार इस काल में दो प्रकार की रचनाएं उपलब्ध थीं - (1) अपभ्रंश की रचनाएं (2) देश भाषा की रचनाएं । राहुल जी ने इसे सिद्ध सामन्त युग कहा है । अपने ग्रन्थ हिन्दी काव्य धारा में सरहपा, स्वयंभू, लुइपा, पुष्पदन्त, जोइन्दु, ..., हेमचन्द्र आदि को भी हिन्दी के प्राचीन कवियों में माना है । डा0 रामकुमार वर्मा ने इसे 'चारण काल' नाम दिया है । डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'आदि काल' के ही पक्ष में हैं । आचार्य शुक्ल ने वीरगाथा काल के साहित्य में 12 कृतियों का समावेश किया है ।[1] किन्तु ये कृतियां अपने मूल और प्रामाणिक रूप में उपलब्ध नहीं हैं । दरअसल बात यह है कि बोलचाल की अपभ्रंश भाषा के विविध रूपों से हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगाली आदि आधुनिक भाषाओं का विकास हुआ है । 11वीं शताब्दी से पूर्व अपभ्रंश भाषा में प्राचीन हिन्दी की झलक अवश्य दिखाई देती है । परन्तु एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास दि... ना 11वीं शताब्दी से ही मानना उचित है । डा0 रामकुमार वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जैसे विद्वानों ने हिन्दी भाषा का उद्भव 7वीं शताब्दी से माना है । अपभ्रंश साहित्य का काल विद्वानों ने 6वीं शताब्दी से 14वीं शताब्दी तक माना है । हिन्दी भाषा की उत्पत्ति अपभ्रंश के साहित्यिक रूप से न होकर उसके लोक प्रचलित रूप से हुई है । 10वीं 11वीं शताब्दी में अपभ्रंश के साहित्यिक रूप का विकास हो चुका था, जिसे आचार्य हेमचन्द्र ने 'ग्राम्य अपभ्रंश' कहा

- -

1- हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास : भाग 1 : अध्याय 4 ; पृ0 373 - 76

है । डा० हजारीप्रसाद के विचार में हेमचन्द्र की यही 'ग्राम्य अपभ्रंश' आगे चलकर देशी भाषाओं के रूप में विकसित हुई ।

× × × × × × अपभ्रंश के अन्तिम रूप और हिन्दी के प्राचीन रूप में इसी साम्य को देखकर पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और राहुल सांकृत्यायन जैसे विद्वानों ने सिद्ध सरहपा जैसे सिद्धों की अपभ्रंश भाषा को प्राचीन हिन्दी स्वीकार करते हुए हिन्दी साहित्य का आरम्भ विक्रम की 7वीं शताब्दी से निश्चित किया है । × × × डा० श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत का समर्थन करते हुए हिन्दी साहित्य का आरम्भ 11वीं शताब्दी से मानना उचित जान पड़ता है । अतः हम संवत् 1050 से 1375 तक हिन्दी का आदिकाल स्वीकार करते हैं ।[1]

यह सर्व स्वीकृत तथ्य है कि बौद्ध और जैन मत का अभ्युदय सूर्य और चन्द्र वंश में जन्मने वाले क्षत्रियों के तिरोहण के उपरान्त ही सम्भव हो सका । इसलिए इन धर्मों का आविर्भाव हिन्दी काव्य के विकास का ही नहीं अपितु विकसित होने वाले साहित्य के काल विभाजन और नामकरण का कारण बना । ब्राह्मण धर्म के उद्धारकर्ता आचार्य शंकर और कुमारिल भट्ट ने जो आन्दोलन चलाया उससे क्षात्र धर्म का पुनरोदय हुआ जो वीरगाथाओं के लिए सबल आधार माना जाता है । इस मत का समर्थन करते हुए जायसवाल महोदय ने लिखा है - "सूर्यवंश और चन्द्रवंश की आदि कालीन राजवंश परम्परा के विलुप्त हो जाने के उपरान्त बौद्ध और जैन मतावलम्बियों का भारतीय समाज पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि देश की वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण और क्षात्र धर्म की स्थिति लुप्तप्राय थी । किन्तु प्राचीन भारतीय राजवंशों के अवशेष के आधार पर धर्म के क्षेत्र में आचार्य शंकर और कुमारिल भट्ट ने जो आन्दोलन चलाया उसके परिणामस्वरूप क्षत्रियों ने राजस्थान, मध्य भारत, मध्य प्रदेश, विन्ध्य प्रदेश आदि प्रान्तों में अपने धर्म की रक्षा के लिए शैव धर्म को अपनाया और सतत् युद्ध द्वारा विदेशी सत्ता के विरोध का प्रण किया । कुषाण साम्राज्य को नष्ट करने और भारतीय राष्ट्र के पुनरुत्थान का व्रत इसी प्रकार तीसरी शती में नाग भारशिवों ने लिया था ।"[2]

जायसवाल महोदय के इस संक्षिप्त वक्तव्य में ही एक ओर बौद्धों एवं जैनों द्वारा लिखित उस साधनात्मक साहित्य का संकेत मिलता है जो अपभ्रंश भाषा की

1- डा० गोविन्दराम शर्मा : हिन्दी साहित्य और उसकी प्रमुख प्रवृत्तियां : पृ०-26-27

2- डा० काशीप्रसाद जायसवाल : हिस्ट्री आफ इण्डिया : पृष्ठ - 5-6।

बहुमूल्य सम्पदा होकर आज भी भारतीय साहित्य की शोभा बढ़ा रहा है दूसरी ओर 'सतत् युद्ध' पदांश से आदिकाल की उस वीरगाथा परम्परा के प्रति इंगित किया गया है जिसे सर्वस्व मानकर आदिकाल को वीरगाथा की संज्ञा दी दी है ।

शुक्ल जी ने वीरगाथा काल नाम से जिस साहित्य को सामने लाना चाहा है, साहित्य की दृष्टि से वह महनीय है भी । देश के जन जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाली लोक वृत्ति इसी प्रकार की थी । शुक्ल जी लिखते हैं - "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है । इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहा जाता है । जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार होती है । अतः इनका दिग्दर्शन भी आवश्यक होता है । इसके अनुसार हम हिन्दी साहित्य के 900 वर्षों के इतिहास को चार कालों में विभक्त कर सकते हैं -

आदि काल (वीरगाथा काल सं० 1050 - 1375)
पूर्व मध्य काल (भक्तिकाल 1375 - 1700)
उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल 1700 - 1900)
आधुनिक काल (गद्यकाल 1900 - 1984)"[1]

शुक्ल जी के इस काल विभाजन से हमारा सम्बन्ध मात्र आदिकाल से ही है । इस आदिकाल को शुक्ल जी ने वीरगाथा काल का नाम देकर बाद में अपभ्रंश साहित्य की उपलब्धियों को मान्यता दी है । लेकिन इतिहास इस बात का साक्षी है कि "सामन्तवाद मध्य युग की एक विशेष उपज थी, यद्यपि इसका अस्तित्व इससे पूर्व भी पाया जाता है । एक विजयी और साम्राज्यवादी राजा के अधीन (उस समय) बहुत से सामन्त होते थे जिनके हाथ में स्थानीय शासन होता था और जो आवश्यकता पड़ने पर राजा की सैनिक सहायता करते थे । सामन्तवाद का सबसे अवांछनीय प्रभाव जीवन संबंधी दृष्टिकोण पर पड़ा । इससे क्षुद्र राजनीतिक संघर्षों और सैनिकता की प्रवृत्ति बढ़ गयी । तुच्छ कारणों से सामन्त और उन पर आश्रित राज्य परस्पर लड़ा करते थे । सामन्तों का

1- रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास : भूमिका : पृष्ठ-1

एकमात्र उद्देश्य होता था अपनी सत्ता को बनाये रखना । सामन्ती राज्य की सारी शक्ति और साधन इसी पर खर्च होते थे । प्रजाहित और जन-कल्याण उनका बहुत ही गौण कार्य था । पशुबल उनकी शक्ति थी और दरबारी तड़क-भड़क आतंक जमाने का साधन । इसी का अनुकरण साधारण जनता भी करती थी ।"[1] इसी से आदिकालीन काव्य प्रेरित और प्रभावित था । शुक्ल जी ने इस काल की इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण शायद वीरगाथा काल नाम उचित समझा था ।

यह निश्चित है कि हिन्दी साहित्य का यह आदिकाल अस्थिरता, संक्रमण, सांस्कृतिक टकराव, दरबारी दिखावा, धार्मिक भावुकता आदि अनेक वांछित-अवांछित सफलताओं-दुर्बलताओं से प्रभावित रहा । इसलिए इस काल की काव्य-धारा का विभाजन और नामकरण करने में उपलब्ध आधार बहुत धुंधले दिखायी पड़ते हैं । कुछ लोगों ने इस काल को अन्धकार काल की संज्ञा दी है । डा० पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेष्ठ इस काल का नाम स्पष्ट अन्धकार काल मानते हैं और अपने मत की पुष्टि में कुछ तर्क प्रस्तुत करते हैं । उनके अनुसार वीरगाथा काल की कोई प्रामाणिक रचना सुलभ नहीं है । शुक्ल जी प्रमुख 7 काव्यों में से पृथ्वीराजरासो, खुमानरासो तथा आल्हखण्ड को बाद का मानते हैं । बीसलदेव रासो शृंगार परक है और भट्टकेदार और मधुकर के काव्य प्राप्त ही नहीं हैं । विद्यापति के शृंगारिक और भक्ति परक पद भी पर्याप्त मात्रा में सुलभ हैं । अतः यह वीरगाथा काल नहीं हो सकता है । इसे हम अन्धकार काल कह सकते हैं । कारण यह है कि हिन्दी साहित्य का आरम्भ आज तक अनिश्चित है । मिश्रबन्धु इसे 713 से मानते हैं, राहुल जी 760 से प्रारम्भ बताते हैं । कवि की दृष्टि से मिश्रबन्धु प्रथम कवि पुष्य या पुण्ड को मानते हैं । राहुल जी स्वयम्भू को तो हजारीप्रसाद जी सिद्ध सरहपा को हिन्दी का प्रथम कवि मानते हैं । काल और कवि के विषय में कोई एकमतता है ही नहीं । डा० कुलश्रेष्ठ ने अनेक तर्क देकर इस काल को अन्धकार काल सिद्ध करने का प्रयास किया है । किन्तु उन्होंने अपने तर्कों में मौलिकता प्रस्तुत न करके आचार्य शुक्ल की पुनरावृत्ति मात्र की है ।[2] जो भी हो शुक्ल जी की मान्यताएं भी यदि आधार मानी जाएं तो यह कैसे अस्वीकार किया जायगा कि इस काल में 'सबकुछ तो सामन्तीय नहीं

- -

1- हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास : भाग 1 : अध्याय 2 : पृष्ठ 37-38

2- डा० हरीश : आदिकालीन हिन्दी शोध : संस्करण 1 : पृष्ठ -47

था। वहां कविता तो बध्द सी थी क्योंकि उसमें जनता के दुख दर्द का वर्णन करने की स्वतन्त्रता थी ही नहीं। दूसरी ओर इस व्यवस्था से विद्रोह करने वाले सिद्धों की कविता है। सिद्धों का विद्रोह वस्तुतः ब्राह्मण धर्म की व्यवस्था से था।[1] डा० रांगेय राघव तो इस बात के कायल हैं कि जब हम हिन्दी भाषा की ओर आते हैं तो सबसे पहले हमें सिद्ध काव्य के दर्शन होते हैं। राहुल जी ने इसे सिद्ध सामन्त युग कहा है। सामन्त तो भारतीय इतिहास में प्रायः प्रत्येक समय दिखाई देते हैं किन्तु इस काल को विशेषतया सामन्तकाल कहा जा सकता है, क्योंकि इस युग के पहले और बाद चक्रवर्ती सम्राटों का प्राधान्य है। जबकि इन 500 वर्षों में अर्थात् ई० की 6वीं शती से 11वीं ई० तक छोटे-छोटे सामन्त ही भारत के विस्तृत भूखण्डों शासित करते हुए मिलते हैं। अन्य विशेषताओं के साथ इस काल में सिद्ध और नाथ काव्यों का उन्मेष देखा जाता है।[2]

वीरगाथा काल : नामकरण का औचित्य :-

आचार्य शुक्ल ने आदिकाल की बारह रचनाओं और उनमें अभिव्यक्त विषय के स्वरूप के आधार पर इस काल का नाम वीरगाथा काल रखा था। किन्तु तथाकथित वीरगाथात्मक काव्यों के सम्बन्ध में पहली भ्रान्त धारणा तो यही है कि वे वीरता की गाथाएं मान ली गयी हैं।[3] विचारणीय यह है कि शुक्ल जी ने स्वयं लिखा था कि - "इस प्रकार इन काव्यों में प्रसंगानुकूल कल्पित घटनाओं की बहुत अधिक योजना रहती थी।"[4] स्पष्ट है कि "यह योजना प्रेम प्रसंगों की ही होती थी। जहां राजनीतिक कारणों से युद्ध होता था वहां भी उन कारणों का उल्लेख न कर किसी रूपवती स्त्री को ही कारण कल्पित करके रचना की जाती थी। (वहां तो, कवि की दृष्टि में युद्ध से भी अधिक महत्वपूर्ण रूपवती स्त्री है। युद्ध के लिए स्त्री नहीं, बल्कि स्त्री के लिए युद्ध है और स्त्री के महत्व को प्रकट करने के लिए वहां घमासान युद्धों की कल्पना है।"[5]

- -

1- डा० रांगेय राघव : गोरखनाथ और उनका युग : संस्करण - 1: पृ०-160
2- वही : पृष्ठ - 159
3- डा० शम्भुनाथ पाण्डेय : आदिकालीन हिन्दी साहित्य : संस्करण-1: पृष्ठ - 29
4- हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृष्ठ - 32
5- ओ०एच०यू० जर्नल : प्रथम : भाग 1 - डा० नामवर सिंह

और आरम्भ तथा आदि इन शब्दों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है । मिश्र बन्धुओं के बाद डा0 हजारी प्रसाद ने आदि काल की संज्ञा पर विशेष बल दिया था किन्तु उन्होंने स्वयं लिखा - "वस्तुतः 'हिन्दी का आदिकाल' शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभावापन्न, परम्पराविनिर्मुक्त, काव्य-रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है । यह ठीक नहीं है । यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, रूढ़िग्रस्त और सजग और सचेत कवियों का काल है । x x x यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है । क्योंकि यद्यपि साहित्य की दृष्टि से यह काल बहुत कुछ अपभ्रंश काल का बढ़ाव ही है पर भाषा की दृष्टि से यह परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की सूचना लेकर आता है । इसमें भावी हिन्दी भाषा और उसके काव्य-रूप अंकुरित हुए हैं ।"[1]

हिन्दी के काल विभाजन की समस्या के साथ ही साथ नामकरण की समस्या भी रचनाकारों द्वारा गृहीत भाषा से जोड़ दी गयी है । जो रचनाएँ अपभ्रंश भाषा में लिखी गयीं उन्हें अपभ्रंश काव्य कहा गया है और यह अपभ्रंश काव्य सिद्धों नाथों द्वारा प्रणीत है । दूसरी ओर डिंगल भाषा में लिखी गयी चारणों की विरदावलियों की लम्बी परम्परा है । इस भाषा के आधार पर डिंगल काव्य या वीरगाथा काव्य के साथ चारण काव्य और सामन्त काव्य का नामोल्लेख किया गया है । काल निर्धारण में काव्य शब्द को हटाकर काल का प्रयोग करते हुए इन काव्यों के रचना समय को वीर गाथा काल, चारण काल, सामन्त काल नाम दिया गया है । प्रथम वर्गीय साहित्य की रचना अवधि को अपभ्रंश काल, सिद्ध काल, आदिकाल, बीजवपन काल, अन्धकार काल आदि कई नाम दिए गए हैं । भाषा और साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर आदिकाल के सम्पूर्ण साहित्य को मुख्यतः दो वर्गों में बाँटा गया है - अपभ्रंश साहित्य और डिंगल साहित्य । 5वीं 6वीं शताब्दी से लेकर 10वीं 11वीं शती तक अपभ्रंश की रचनाओं की बहुतायत है । 10वीं 11वीं से लेकर 1400ई0 तक वीरगाथाओं का दौर चलता है । विविध काल का नामकरण और काल विभाजन चाहे कुछ भी किया गया हो, भाषा और विवेच्य वस्तु के आधार पर यही उपर्युक्त वास्तविकता समूचे काल

1- डा0 हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' से डा0 जयकिशन प्रसाद द्वारा उद्धृत - हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ : पृष्ठ - 34

वीरगाथाओं का यह स्वरूप जिसके मूल में श्रृंगार था, वीरगाथा के रूप में स्वीकृतता हो और उस काल को वीरगाथा काल कहा जाए, बहुत तर्कसंगत नहीं है। किन्तु इस सत्य की अवहेलना नहीं की जा सकती कि - "संसार में बड़ी-बड़ी सफलताओं के लिए प्रेरणा नारी के प्रेम से ही प्राप्त हुई है।"[1] इन कथनों के प्रकाश में डा० पाण्डेय लिखते हैं कि वही प्रेम यहाँ भी दिखाई पड़ता है। × × × इन सब दृष्टिकोणों से आदिकाल का नाम वीरगाथा काल सटीक नहीं है।[2]

आचार्य शुक्ल के वीरगाथा काल को डा० रामकुमार वर्मा चारण काल कहते हैं। उनके अनुसार सं० 750 - 1000 तक के बीच का काल सन्धिकाल है क्योंकि इस काल में अपभ्रंश जनभावनाओं के अनुसार अपने को शिथिल करने लगी थी। सन्धिकाल के बाद आदि के काल का नाम वर्मा जी ने चारण काल दिया है। उनके अनुसार इस काल की रचना अधिकतर चारणों के द्वारा हुई है। इस काल की राजनीतिक स्थिति भी उन्हीं के अनुकूल थी। उस समय में राठौर, सोलंकी, पवार, कछवाहा, परिहार, चन्देल, तोमर, पाल, अहीर, गहलौत और चौहान वंश शासन कर रहे थे।[3] विश्लेषण से यह बात होता है कि डा० वर्मा के नामकरण में वही असंगति है जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के नामकरण में है। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सम्पादित इतिहास में यह उल्लेख किया गया है कि वस्तुतः इस काल की रचनाएँ जिन चन्द आदि के द्वारा हुई हैं वे चारण नहीं, भट्ट ब्राह्मण थे। चारणों का राजपूतों से सम्बन्ध 15वीं शताब्दी से होता है।[4] अतः इस काल का चारणकाल नाम विशेष ग्रहणीय नहीं प्रतीत होता।[5]

राहुल जी ने आदिकाल को उभय धाराओं को अर्थात् अपभ्रंश और डिंगल भाषा के काव्य को एक साथ जोड़कर सिद्ध सामन्त काल नाम दिया है। इस पर आपत्ति करते हुए डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी ने कहा है कि इस नाम से लौकिक रस (संदेश रासक आदि) का बोध नहीं हो पाता जिसका परवर्ती साहित्य पर व्यापक प्रभाव है।[6] डा० हजारी प्रसाद जी ने आदिकाल नाम दिया है। डा० विश्वनाथ प्रसाद

- -

1- डा० राधाकृष्णन : धर्म और समाज : पृष्ठ - 170

2- आदिकालीन साहित्य : पृष्ठ 32

3- डा० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : पृ० 31 - 32

4- हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास : भाग 1 : पृष्ठ 375

5- आदिकालीन हिन्दी साहित्य : पृष्ठ 34

6- हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास : पृष्ठ - 83

मिश्र भी इसी नाम को स्वीकारते हैं ।[1] वास्तविकता यह है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास के विकास क्रम के पृथक-पृथक चरणों के नामकरण में विभिन्नताएं हो गलत हो गया था । इस ओर संकेत करते हुए डा० शर्मा ने यह मत व्यक्त किया है कि मिश्र बन्धुओं ने अपने 'मिश्रबन्धु विनोद' में विवेच्य काल को आदिकाल के नाम से पुकारा था, किन्तु शुक्ल जी ने बारह वीरगाथाओं की प्रमुखता देकर इसका वीरगाथा काल नामकरण किया । शुक्ल जी ने वीरगाथाओं को जहां प्रधानता दी वहीं जैनियों द्वारा रचित प्राचीन ग्रन्थों को धार्मिक साहित्य घोषित कर देने के कारण शुक्ल जी ने उसे रचनात्मक साहित्य की परिधि से निकाल दिया और नाथों और सिद्धों की रचनाओं को शुद्ध साहित्य में स्थान नहीं दिया ।[2] तृतीयतः दोहे जैसे छन्दों में की गयी फुटकल रचनाओं में किसी विशिष्ट प्रवृत्ति का न होना आदि ऐसी तमाम बातें थीं जिनसे परस्पर विरोधी विचार व्यक्त करने को बढ़ावा मिला ।

आदिकाल बनाम बीज वपन काल :-

आदिकाल, वीरगाथा काल, अपभ्रंश काल, संधि-चारण काल, सिद्ध-सामन्त काल आदि अनेक अभिधाओं का लक्ष्य मूलतः एक ही काल खण्ड था । इस काल खण्ड में हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, परिष्कार, श्रृंगार भले हुआ हो या न हुआ हो, विद्वान इसे 10-50 वर्ष आगे ले जायें या पीछे ले जायें, इसमें दो राय नहीं कि भारतीय साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी कविता के अंकुर इसी काल में फूटे थे । साहित्य की भूमि में हिन्दी काव्य के बीज के वपन के क्षण इन्हीं दिनों बीत रहे थे । आचार्य प्रवर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस काल को शायद इसीलिए 'बीज वपन काल' के नाम से अभिहित किया है । लोगों का विचार है कि यह नाम समीचीन दिखायी नहीं पड़ता । साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से इसे उक्त नाम से पुकारना असंगत है, क्योंकि इस काल में प्रायः अपने पूर्ववर्ती साहित्य की काव्य रूढ़ियों और परम्पराओं का सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है ।[3] इस तर्क के आधार पर यह कहने का प्रयास किया गया है कि इस काल का नाम बीजवपन काल रखना उचित नहीं है । बीज वपन

1- हिन्दी साहित्य का अतीत : पृ० 30-35

2- डा० शिवकुमार शर्मा : हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियां : पृष्ठ-8

3- वही, पृष्ठ - 14

के साथ देखी जाती है ।

निष्कर्ष यह कि 5वीं शताब्दी से लेकर 14वीं शताब्दी तक लिखा गया साहित्य आदिकाल की अधिकतम सीमा की सामग्री है । यह सामग्री भाषा और विषय की दृष्टि से मोटे तौर पर दो भागों में बंटी हुई है । अपभ्रंश भाषा में लिखा गया सिद्धों-नाथों का साधनात्मक साहित्य, धर्म प्रधान साहित्य है । लेकिन लोक रस के व्यंजक संदेश रासक जैसे काव्य लोकरस सम्पन्न जीवन की भी व्यंजना करते हैं । इस में मुक्तक खण्ड काव्य, चरित काव्य, विरह काव्य सब कुछ लिखे गये हैं । इसी के समानान्तर थोड़ा आगे बढ़ कर राजस्थानी डिंगल भाषा में लिखी गयी वीरगाथाएं सामन्तों और वीरों की धारता का बखान करती हैं । जिनमें प्रायः प्रबन्धात्मक शैली में लिखे गए पंवारे जो इस काव्य धारा के स्वरूप हैं । भाषा रूप, प्रवृत्तियों के उन्नयन और विकास की अनेकरूपता के साथ शैलीगत अनेकताएं हैं इसलिए इसका काल विभाजन और नामकरण भी अनेकता से पूर्ण है । इसी अनेकता के कारण इस काल में सिद्धों-नाथों की रचनाएं, चारण कवियों की कृतियां, लोकरस लिखने वाले श्रृंगारी कवियों के काव्य सब कुछ आते हैं । राहुल जी का विचार है कि हिन्दी की इस काल में जो कविता उपलब्ध हुई है वह सिद्धों की है । इन सिद्धों में सरहपा का समय 750 ई० महाराजा धर्मपाल के समकालीन, लुइया का समय 769-809 ई० तथा कण्हपा का समय 809 से 889 ई० है ।[1] सिद्ध तो सहजिया सम्प्रदाय के थे । जिनका उल्लेख सरहपा से करते हुए 8वीं शती से निश्चित किया गया है । एक तो इनसे पहले भी तमाम रचनाएं हो चुकीं थीं और दूसरे 'इन सिद्धों के अतिरिक्त 600 ई० से 1400 ई० के बीच कई जैन पण्डितों तथा अन्य कवियों की रचनाएं देशीभाषा में उपलब्ध हैं । हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने सं० 1050 से 1400 तक के साहित्य के काल को वीरगाथा काल के नाम से सम्बोधित किया है । किन्तु इस समय की तथाकथित रचनाओं की प्रामाणिकता संदिग्ध है । 'पृथ्वीराज रासो', 'खुमानरासो' आदि अपने मूलरूप में उपलब्ध नहीं हैं । अतएव उनकी भाषा भी भाषा के क्रमिक विकास के अध्ययन की दृष्टि से सर्वथा अनुपयोगी है ।[2] किन्तु संदिग्ध-असंदिग्ध, उपयोगी -

---

1- ओरियण्टल कांग्रेस बड़ौदा की हिन्दी शाखा के सभापति श्री राहुल सांकृत्यायन का भाषण ।

2- डा० उदयनारायण तिवारी : वीरकाव्य : पृ० - 16

अनुपयोगी की जो छानबीन अब तक हो चुकी है उससे स्वीकृत सभी सामग्री का अनुशीलन इस काल के अन्तर्गत करना चाहिए । काल और नाम से हमें केवल प्रवृत्तिगत प्रभाव को ग्रहण करना पड़ेगा । इसलिए इस काल के काव्य की रचना प्रवृत्तियों की प्रेरणा भूमि का अवलोकन करना आवश्यक है । विवेच्य कालीन काव्य के प्रेरक तत्व के प्रकाश में ही आदिकालीन काव्य-कोष में प्रशस्ति की सम्भावना का द्वार खोला जा सकेगा । प्रथमतः हम इस काल के काव्य के प्रेरक तत्व पर ही विचार करेंगे ।

आदिकालीन काव्य के प्रेरक तत्व

अब तक हमने इस काल की विभाजक रेखाओं और नामकरण की समस्याओं पर विचार किया जिसमें रचे गये काव्य में प्रशस्ति का स्वर अनुसन्धेय है । यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि वैचारिक और सांस्कृतिक उथल-पुथल के परिणामस्वरूप आगन्तुक जीवन का अन्तर-बाह्य समूचा बदल जाता है किन्तु इन परिवर्तनों के जो प्रेरक तत्व होते हैं उन्हें बड़ी सतर्कता के साथ देखने-परखने पर ही यह ज्ञात होता है कि यह परिवर्तन मात्र परिवर्तन है या प्रगति भी । और यदि ऐसा आपाततः हो ही गया तो इसके होने के साहित्य अथवा काव्य में उसकी व्यंजना ईमानदार और तदनुरूप है । कोई भी घटना, आन्दोलन, किसी भी प्रकार की नूतनता या सृजन अपनी प्रेरणा भूमि से सीधा सम्बन्ध रखती है और उसकी रचना पर उसका प्रभाव होता है । यदि प्रेरणाओं का पता चल जाये तो आदिकालीन काव्य प्रशस्ति अनिवार्यतः सम्भव थी या नहीं आगे यह भी कहा जा सकता है । सम्प्रति इस प्रसंग में हम आदिकालीन काव्य में प्रशस्ति की सम्भावना की अनिवार्यता के प्रेरक तत्वों पर ही विचार करेंगे ।

5वीं से 14वीं शती तक की जिस लम्बी अवधि को और उसमें लिखे गये हिन्दी काव्य को आदि काल के अनुशीलन-विषय के रूप में ग्रहण किया है उसमें दो चीजें प्रमुख थीं -

(अ) धर्म साधना ।

(ब) सामन्तवाद ।

इन दो विशेष तत्वों के अतिरिक्त इनसे जुड़े हुए और इनको स्थापित करने वाले कुछ और तत्व भी थे । उनमें मुख्य हैं -

(स) समाज तत्व

(द) साहित्य और संस्कृति

इनके अतिरिक्त प्रेरक तत्वों के रूप में और भी बातें विचारणीय हो सकती हैं । कहने का तात्पर्य यह कि आदिकालीन काव्य की प्रेरणा भूमि के रूप में कम से कम इन प्रमुख विषयों पर विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि सिद्धों-नाथों और सामन्तों के जीवन की वैचारिक धुरी के ये ही आधार हैं । और अपने समय के जीवन को चित्रित करने वाले साहित्य को तत्कालीन जीवन दृष्टि प्रभावित भी करती है । प्रभाव ही प्रेरक बन कर नई दिशा का निर्देश, नये साहित्य का उन्मेष और नई परम्पराओं की प्रतिष्ठा करता है । अतः अब हम इन पर विचार करते हैं ।

अ- आदिकाल के प्रेरक धार्मिक तत्व :-

आदिकाल की कविता मूलतः धार्मिक एवं राजनीतिक संक्रमण की प्रमाणित परिस्थितियों का परिणाम है । राज्य व्यवस्था के क्षेत्र में समूचा देश विघटन की प्रताड़ना से चूर होकर खण्ड-खण्ड बँट गया था । धर्म के क्षेत्र में वैदिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध जैन और बौद्ध धर्म का प्रभाव पूरी तौर से प्रतिफलित हो चुका था । बौद्ध और जैन धर्म को समस्त देश में व्यापक बनाने का आन्दोलन चलाने वाले जैनी और बौद्ध अपने धर्म को जहाँ एक ओर प्रतिष्ठा कर रहे थे वहीं दूसरी ओर वैदिक धर्म की विकृतियों को बढ़ा चढ़ा कर कहने की प्रवृत्ति भी बड़ी बलवती हो गयी थी । संयोग कुछ ऐसा रहा कि जिन दिनों जैन और बौद्ध धर्म भारत के वैदिक और सनातन धर्म को पदच्युत कर लोकमानस के सिंहासन पर आरूढ़ हो रहे थे उन दिनों लोक जीवन की व्यंजना देने वाली भाषा अपभ्रंश ही थी । इसलिए जैन और बौद्ध धर्म का साहित्य इसी लोक भाषा - अपभ्रंश में ही रचा गया । इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि तत्कालीन अपभ्रंश काव्य का प्रेरक तत्व जैनियों और बौद्धों की धार्मिकता थी । यह माना गया है कि "अपभ्रंश साहित्य का विकास तथा संवर्धन तो जैन लेखकों की ही देन है । प्राचीन जैन कवियों ने 'रासा' नामक काव्यों की सृष्टि की जिनमें तीर्थंकरों तथा तत्कालीन मान्य सन्तों का आध्यात्मिक जीवन वर्णित है ।"[1] वैदिक धर्म के विरोध में आविर्भूत धार्मिक आन्दोलन पहले जैनियों का था तदुपरान्त बौद्धों का । किन्तु आदिकाल के हिन्दी

1- हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास : खण्ड 3 : अध्याय 2 : पृ0-444

साहित्य की प्राचीनतम स्तर की रचना प्रक्रिया के प्रेरक तत्व के रूप में दोनों धर्मों ने बड़ी प्रभावी भूमिका निभाई है । "बौद्ध एवं जैन धर्म सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि गौतम बुद्ध के आविर्भाव काल में उत्तरी भारत के निवासियों का धार्मिक जीवन एक समान आदर्शों का अनुसरण करने वाला नहीं था ।"[1] चतुर्वेदी जी के वक्तव्य से ऐसा लगता है कि आवर्तमान जैन और बौद्ध धर्मों के साथ निवर्तमान वैदिक धर्म के अवशेष अपना प्रभाव बनाए हुए थे । लेकिन कुल मिला कर प्रारम्भिक दिनों में यह संक्रमण एक अस्थिरता को जन्म दे रहा था । शायद इसीलिए कुछ लोगों ने इसे अन्धकार काल कहा है । डा० विन्टर निट्ज का विचार है कि उस युग में हम दशकों तक किसी भी प्रकार के साहित्य निर्माण की चेष्टा नहीं हुई ।[2] चतुर्वेदी जी यह मानते हैं कि गौतम बुद्ध के आविर्भाव काल में आज कल जैसे साहित्यों की रचना की ओर कदाचित ध्यान ही नहीं दिया जाता था । जब कभी कोई धार्मिक आन्दोलन आरम्भ होता अथवा मत मतान्तर के बीच कोई विवाद छिड़ता अथवा कोई विचारक विशेष अपने सिद्धान्तों के प्रचारार्थ घूम-घूम कर सर्वसाधारण में उपदेश देना आरम्भ करता, अधिकतर मौखिक बातों का ही प्रयोग किया जाता ।[3]

अपभ्रंश भाषा में ही इस काल के साहित्य का सर्जनात्मक समारम्भ हुआ था । रची गयी ये रचनाएँ चाहे उपदेश अथवा शिक्षा के लिए लिखी गयी हों, चाहे इन्हें साहित्यिक उपलब्धि के रूप में मान्यता दी जाये, लेकिन कुल मिलाकर इस काल में दो प्रकार की रचनाएँ हुईं - चरित काव्य और धार्मिक सिद्धान्त वाले काव्य । चरित काव्य दो प्रकार के थे - तीर्थंकरों एवं श्रावकों के चरित तथा वीरों और सामन्तों के चरित ।[4] प्राय: देखा जाता है कि तीर्थंकरों और श्रावकों की चरितावली से अपनी यात्रा आरम्भ करने वाली आदिकालीन काव्यधारा बाद में भाषान्तरण के साथ वीर सामन्तों की यशगाथा के विशद प्रसार में स्थापित हो उठी । किन्तु इस काल का पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्य धर्म के स्तर पर ही अपनी अवधारणा सिद्ध कर रहा था । "संसार

1- पंडित परशुराम चतुर्वेदी : बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक : पृ० - 28

2- ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, वाल्यूम 2 : यूनीवर्सिटी आफ कलकत्ता : 1933 : पृ० 2-3

3- बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक : पृ० - 39

4- हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास : पृ० - 29

से अलग करके निष्कर्म भावना को प्रधानता, संसार की निस्सारता का उपदेश देकर भारत में नाथ सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ । इनकी वाणी में लोकोत्थान की भावना नहीं, गुह्य साधना और सिद्धि के स्वर थे, जिनके द्वारा लोकोत्तर आनन्द की कल्पना की गई थी । बौद्ध धर्म के कर्मकाण्ड से त्रस्त सन्तों ने वज्रयानी विचारधारा के आधार पर सहज साधना के रथ को जन्माया था । यह सहज साधना नाथ सम्प्रदाय की मूलाधार थी । इन्होंने निरीश्वरवादी बौद्ध धर्म के आधार पर अपने प्रकार के ईश्वरवाद की प्रतिष्ठा की । (सच बात तो यह है कि) नाथ सम्प्रदाय वास्तव में सिद्ध सम्प्रदाय का विकसित रूप है । x x x नाथ सम्प्रदाय का मूलाधार निवृत्ति मार्गी ज्ञान योग है । इनकी भावनानुसार इनकी हठयोग साधना ईश्वरवाद से पूर्ण है । नाथ सम्प्रदाय के अनुसार ईश्वरोपासना के बाह्य साधन व्यर्थ हैं । ईश्वर का दर्शन अध्यात्म साधना द्वारा अपने हृदय में ही सम्भव है ।"[1] धर्म प्रधान अपभ्रंश की इस काव्य धारा में लोक लाभ का उपेक्षा भाव के साथ गुरु गरिमा का गायन प्रधान प्रेरक स्वर रहा है । यथा -

गुरु कीजै गहिला निगुरा न रहिला ।
गुरु बिन ग्यान न पाईला रे भाईला ।
दूधै धोया कोइला उजला न होईला ।
कागा कंठै पुहुप माल हँसला न भईला ।[2]

ऐसा नहीं कि इस काव्य में केवल रचनात्मक स्तर पर गुरु की महिमा का ही गान किया गया हो, धार्मिक क्षेत्र के विविध आयामों से सम्बद्ध अनेक दिशाओं के अनावरण भी देखे जाते हैं । ब्रह्म प्रेरणा, पंच कल्याण स्तुतियाँ, दास भाव, आराध्य की महत्ता, कीर्तन, स्मरण आदि अनेक ऐसे बिन्दु हैं जो काव्य सृजन को सम्प्रेरित करते रहे ।[3] यहाँ इनका संकेत मात्र दे देना ही पर्याप्त है, इन पर विस्तृत विचार इस प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में किया जायेगा ।

आदिकालीन अपभ्रंश साहित्य की इस धार्मिक प्रेरणा में सिद्धों - नाथों की उपासना की अन्तः सलिला शैव सिद्धान्त से सम्प्रेरित थी । यह माना गया है कि

1- हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास : पृ0 56, 59
2- गोरखबानी : पृष्ठ 128
3- डा0 प्रेमसागर जैन : हिन्दी जैन भक्ति काव्य एवं कवि : पृ0 7-16

सिद्धयुगीन कविता ही हिन्दी कविता का प्रथम रूप है और इसमें जैन और शैव धर्मावलम्बी अनेक तद्भव प्रधान भाषा के कवि थे । इस काल में यद्यपि अधिकांश राजा तथा सामन्तों के दरबारों में संस्कृत को ही अधिक प्राधान्य मिला हुआ था किन्तु बौद्ध जैन और कुछ अन्य राजा भी हिन्दी को अपने दरबारों में स्थान देते थे । स्वयम्भू देव ध्रुव धारा वर्ष के अमात्य रड्डा के साथ रहते थे, उनके आश्रित थे, स्वयम्भू की कविता में तत्कालीन सामन्त व्यवस्था का चित्रण भरा पड़ा है । जैन कवियों में स्वयम्भू का बहुत बड़ा स्थान है । राहुल जी का मत है कि उस युग में हिन्दी कविता के क्षेत्र में स्वयम्भू से बड़ा कोई कवि नहीं हुआ ।[1] इस उद्धरण के प्रकाश में यह स्वीकारने में कोई कठिनाई नहीं होती कि स्वयम्भू और पुष्प जैसे अपभ्रंश के चरित काव्य प्रणेताओं ने ही सामन्तीय अनुबोध को उजागर किया । किन्तु उसका प्रधान स्वर अलौकिक आनन्दानुभूति की थी । डा० रामकुमार हिन्दी साहित्य का आरम्भ तो बौद्ध धर्म के वज्रयान सिद्धान्त के प्रचार से मानते हैं, किन्तु वह यह भी मानते हैं कि इस भाषा के अपने साहित्य में .... नहीं है । उनकी अगली बात अवश्य विचारणीय है कि अपभ्रंश .. ... अवस्था में हिन्दी का रूप ले रही थी, उस समय जैनाचार्यों ने अपने धार्मिक सिद्धान्त पर अपभ्रंश भाषा से निकली हुई भाषा में शुरू कर दिए थे । यद्यपि इस भाषा में जैन धर्म के सिद्धान्त ही लिखे गए हैं ।[2]

तत्कालीन काव्य की शुद्ध धार्मिक प्रेरणा के अतिरिक्त सामन्तीय जीवन का धर्म तत्व भी तत्कालीन कवियों को उनके लौकिक धर्म में प्रोत्साहित कर रहा था । प्राप्त शिला लेखों से इस तर्क की पुष्टि मिलता है । अभरी अथवा नटेश्वर शिलालेख जो मथुरा के निकट ... बघारी में प्राप्त हुआ था, में "नमो भगवते वासुदेवाय" से प्रारम्भ करके परमर्दि देव द्वारा ... विष्णु तथा शिव के मन्दिरों का उल्लेख मिलता है ।[3] कालिंजर के नीलकण्ठ मन्दिर की एक विशाल कृष्ण शिला में उत्कीर्ण पंक्तियों का प्रारम्भ "ॐ नमः शिवाय" से होता है । इस लेख के पूर्वार्ध में शिव-पार्वती की सुन्दर स्तुति है और अन्त में यह उल्लेख है कि परमर्दि देव ने भगवान पुरारि की स्तुति स्वयं लिखी थी ।[4]

1- डा० रांगेय राघव : गोरखनाथ और उनका युग : संस्करण । : पृ० 160
2- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : पृ० 44 - 45
3- डा० अयोध्या प्रसाद पाण्डेय : चन्देलकालीन बुन्देलखण्ड का इतिहास : संस्करण । : पृष्ठ 107
4- वही : पृष्ठ 108

आदिकालीन काव्य के धार्मिक स्वरूप से सम्बद्ध इन असंख्य उद्धरणों के प्रभाव में यह मानना पड़ता है कि न केवल अपभ्रंश भाषा में लिखा गया आदिकालीन साहित्य अपितु डिंगल भाषा की वीरगाथाएं भी धर्म से बहुत दूर तक प्रभावित और प्रेरित हैं ।

<u>प्रेरणा के सामन्तीय तत्व :-</u>

आदिकालीन सामन्तवाद अपने मौलिक रूप में भारतीय वर्ण व्यवस्था में क्षत्रियों का वह दर्पित स्वरूप है जिसका समर्थन 'बाहु: राजन्य: कृत:' से हो जाता है । यह राजन्य वर्ग क्षत्रियों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है । भारतवर्ष में सुलभ इतिहास के आधार पर क्षत्रियों के दो ही प्रमुख वंश प्रारम्भ में स्वीकृत रहे - सूर्यवंश और चन्द्रवंश । किन्तु काल दुर्निवार प्रताड़ना से बदल जाने वाले इस विश्व के बीच इन दो राजवंशों का वर्चस्व भी समाप्त हो गया । क्षात्र धर्म के ह्रास काल में ही शक, म्लेच्छ आदि विदेशी जातियों के आक्रमण से आर्यावर्त की व्यवस्था छिन्न भिन्न होने लगी । भारतीय संस्कृति का कुछ ऐसा स्वरूप ही रहा है कि इसमें जन-जीवन की रक्षा का दायित्व क्षात्र धर्म पर रहा और उस क्षात्र धर्म की प्रतिष्ठा का दायित्व सदा ब्राह्मणों को निभाना पड़ा है । निदान वशिष्ठ ने अर्बुद पर्वत पर अपने यज्ञ कुण्ड से चार योद्धाओं को उत्पन्न किया - परमार, चालुक्य, परिहार और चाहुमान ।[1] जो भी हो अधिकांश प्रमुख राजपूत वंश प्राचीन क्षत्रियों के वंशज हैं इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता किन्तु काल प्रभाव से भारत के राजपूत कई राज्यों में बंट गये और उन राज्यों की अलग-अलग वंश परम्पराएं पड़ीं । सिन्ध, काबुल, पंजाब, कश्मीर, कान्यकुब्ज, उज्जैनी, त्रिपुरी, शाकम्भरी, दिल्ली और जेजाकभुक्ति आदि स्थानों में राजपूत वंश की परम्पराएं प्रसरित हो गयीं ।[2] माना यह भी गया है कि जैन और बौद्ध धर्म के अतिशयतावादी प्रभाव से वैदिक धर्म के दब जाने की स्थिति में भट्ट कुमारिल और आचार्य शंकर ने विदेशी वीर आक्रान्ताओं को भारतीय क्षत्रीत्व की क्लीवता के कारण क्षात्र धर्म में दीक्षित करना प्रारम्भ कर दिया । कहने का तात्पर्य यह कि 10वीं 11वीं शताब्दी के लगभग क्षत्रियों के ये ही वंशधर जिनके विकास का ऊपर निर्देश दिया जा चुका है, राजस्थान

1- पृथ्वीराज रासो : ना0प्र0 काशी ।

2- विस्तृत ज्ञान के लिए हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (ना0प्र0स0काशी) के पृ0 40-63 तक का अवलोकन करें ।

में पृथक-पृथक शासी घटक के रूप में शासन कर रहे थे । इन क्षत्रियों का धर्म ही था देश के लिए लड़ना, किन्तु दुर्भाग्य यह रहा कि विवेच्य काल के ये सामन्त नारी युद्ध और राज भाग के लिए मर-मिट रहे थे । लेकिन इनको इस हाय-हत्या में भी वीरता का किसी प्रकार अभाव नहीं था । इसलिए इनके राज्याश्रय में वीरधर्म और वीर रस प्रधान साहित्य - सर्जना को पूरा प्रोत्साहन मिला है ।

क्षत्रिय वंश के विषय में यह तथ्य अवधारणीय है कि पृथ्वीराज रासो, रणमल छन्द, वीर चरित्र, राज विलास, आल्ह खण्ड आदि में पुत्र जन्म, विवाह, राज्याभिषेक एवं युद्ध आदि के अवसर पर उनके 36 वंश या कुल एकत्र होते प्रदर्शित किए गए हैं । स्पष्ट है कि आलोच्य काल में क्षत्रियों के कुल 36 वंश या कुल थे । 36 धर्मनिष्ठ राजकुलों की यह सूची सन् 1100 ई0 के लगभग तैयार की गयी थी जिसमें परिगणित प्रत्येक राजकुल का महत्व अभिवृद्धि हुआ था और विवाह आदि सम्बन्ध इन्हीं कुलों में मर्यादित कर दिए गए थे ।[1]

वैद्य जी के इस वक्तव्य में जहाँ प्रशस्ति मूलक काव्य की रचना को प्रेरित करने वाले सामन्तों की जीवन पद्धति का परिचय मिलता है, वहीं तत्कालीन क्षत्रियों पर लगाए गए आपसी फूट के आरोप का खण्डन भी हो जाता है । खैर, इस विवाद में पड़ना हमारा काम नहीं । यह तो निश्चित ही है कि लड़ाकू वृत्ति वाली इस जाति का जीवन वीरगाथाओं की रचना को प्रेरित करने के लिए विवश ही था । यह लड़न्तिहार क्षत्री राजस्थान में निवास करते थे । राजस्थान एक महान प्रदेश है । सदियों तक यह भारतीय संस्कृति, शौर्य, साहित्य और कला का केन्द्र रहा है । राजस्थान नाम में ही कुछ ऐसा जादू है कि जिसे सुनकर हृदय में जोश उमड़ पड़ता है । अपने धर्म, अपनी मान मर्यादा, और अपने देश गौरव के नाम पर मर मिटने वाले असंख्य नर नारियों के रक्त से सनी हुई यहाँ की धरती तीर्थराज प्रयाग की तरह पवित्र, और यहाँ का प्रत्येक रजकण गंगा माँ की रेणु की तरह मुक्ति को देने वाला है । महामति कर्नल टॉड के शब्दों में राजस्थान में कोई छोटा सा राज्य भी ऐसा नहीं जिसने थरमापिली, जैसी रण भूमि न हो और न कोई ऐसा नगर है जिसमें लियोनिडस जैसा वीर पुरुष

1- चिन्तामणि विनायक वैद्य : हिन्दू भारत का अन्त : पृ0 586-90

उत्पन्न न हुआ हो । एक समय था जब यहाँ की माँ - बहनें अपने पुत्रवधुओं को वीरता का पाठ पढ़ाया करती थीं और खुद भी देश के लिए जलने-मरने के लिए तैयार रहती थीं :-

बाला चाल न बीसरै मीबड़ जहर सभाग ।
रीत मरन्ता खेल की उठ्यो धमसान ॥
वीरालेवण आवियो पिउ रण हुआ वहोर ।
अब तो अलखा आवण अब नह आवा पोर ॥
हुर पुर रवखणजावसी या छोड़ी या प्रीत ।
सखी पिउको देस हूँ संग बलवारी रीत ॥ "[2]

ऊपर जो है इस विवेचन से यह बताने की आवश्यकता शायद नहीं रह जाती है कि सामन्तों का जो जीवन था, उससे जन्मने वाले प्रत्येक वस्तु और प्रवृत्ति पर युद्ध और भोग का दूरगामी प्रभाव पड़ना बहुत स्वाभाविक था । दूरगामी प्रभाव के रूप में शब्द स्तर पर उसका प्रतिफलन भी, ऊपर, उसे तुरन्त बाद दे दिया गया है । यहाँ प्रेरणा भी है और परिणाम भी । हमने अभी देख लिया जैसा जीवन रहा वैसा साहित्य भी ।

इतिहासकारों ने सामन्तीय जीवन की जिन प्रमुख प्रतिलक्षणाओं को ऐतिहासिक स्तर पर स्वीकार किया है, उनमें सामन्तीय व्यवसाय, सामन्तीय समारोह, युद्ध केन्द्रित जीवन स्तर, वीर धर्मी आचार, बड़ी-बड़ी उपाधियों को धारण की ललक आदि को प्रमुख बताया गया है ।[2] युद्ध और समारोह की सामन्तीय प्रवृत्तियों से हिन्दी का सामान्य पाठक सुपरिचित ही है । जहाँ तक सामन्तीय व्यवसाय और उपाधियों का प्रश्न है, यह बताया गया है - नकद वेतन के स्थान पर भू-अनुदानने सामन्तों को अब प्रदान किया । सामन्त राजा से मिली भूमि लगान पर, दोनों की सम्मति से उठा कर, उसका एक निश्चित भाग राजा तथा शेष भाग सामन्त भोगते थे । इस शेष भाग में से सामन्तों सेना का संगठन करना और उससे राजा की सहायता करना धर्म था,

- -

1- डा० मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य : भूमिका : पृ० 1-2
2- रोमिला थापर : भारत का इतिहास : संस्करण 1 : पृ० 200-205

ऐसा न करना घृणास्पद माना जाता था । 'सामन्त अपनी पुत्री का ब्याह भी राजा से करने को बाध्य था । वह अपने स्वामी की मुद्रा का उपयोग करता था, और जिन स्मारकों, शिलालेखों आदि का वह निर्माण करवाता था, उनमें वह कर्तव्यवश अपने राजा के नाम का उल्लेख करता था ।'[1]

रोमिला थापर के इस उद्धरण से प्रतीत होता है कि सामन्तीय परिवेश में जागीरदारी की प्रथा प्रचलित थी । सामन्त तो होते ही थे, उपसामन्त भी होते थे । आयका एक निश्चित भाग सैनिक संगठन पर खर्च होता था । सामन्त अपनी पुत्रियों का विवाह प्रधान सामन्त के साथ करने को विवश थे, जिससे बहु विवाह और भोगवाद को प्रोत्साहन मिल रहा था । जागीरदार या उपसामन्त राजा के प्रति उत्तरदायी होते थे और कर्तव्य के रूप में राजा की प्रशंसा से पूर्ण स्मरण और शिलालेखों की रचना कराना आवश्यक था । व्यावसायिक और सामाजिक दृष्टि से भी तो युद्ध और युद्ध भोग ही इस काल की प्रेरक प्रवृत्ति थी । अतः तत्कालीन काव्य इनसे ही अनिवार्यतः उत्प्रेरित रहा ।

दर्प अथवा अहंकार और असमर्थता का प्रदर्शन भी सामन्तीय जीवन का एक अनिवार्य बाह्य अंग था । इसलिए प्रत्येक राजा, जागीरदार, सरदार अथवा सामन्त बड़ी-बड़ी उपाधियों के प्रति लालायित रहा करते थे । इसलिए इस युग में राजपूतों के लिए उपाधियों का बाजार अतुल गर्म था । आज - आज लोगों की उपाधियाँ तो अन्धेर की टट्टी में गुजराती ताले के समान जान पड़ती थीं । ढाई आना लगान देने वाले का नाम भी फतह सिंह होता था । यह तथ्य इतिहास से समर्थित है । बताया गया है - "ये सरदार बड़ी-बड़ी उपाधियों का प्रयोग करना पसन्द करते थे । न्यूनतम महत्व रखने वाला शासक भी 'महाराजाधिराज' जैसी उपाधि - जो किसी समय शाही उपाधि थी - ग्रहण करता था । और इसका प्रयोग बहुधा प्रशस्तिपूर्ण शब्दाडम्बर युक्त वंशावलियों में किया जाता था । अधिक महत्वपूर्ण राजा लोग तो उपाधि का आविष्कार करने में बाजी मार ले जाते थे । पृथ्वीराज तृतीय जो समस्त भारत पर राज्य करने की महत्वाकांक्षा रखता था, स्वयं को 'भारतेश्वर' कहता था । कन्नौज का एक बारहवीं शताब्दी का शासक स्वयं को 'अत्यन्त महामहिम महाराजाधिराज,

---

1- रोमिला थापर : भारत का इतिहास : संस्करण 1 : पृ० - 200

श्रेष्ठ स्वामी अश्व गज तथा नृपति त्रिलोकीनाथ - - -'आदि कहता था । राजाओं को वास्तविक राजनीतिक स्थिति के यह उपाधि अनुकूल नहीं थी । छोटे-छोटे कार्यों का इतना अधिक विस्तृत विवरण दिया जाता था कि वे वीरता के प्रमुख कार्य प्रतीत हों और निम्नतम स्तर की चापलूसी भी दरबारी दृष्टि से सामान्य समझी जाती थी, यद्यपि अधिक बुद्धिमान राजा होशियारी से की गयी चापलूसी-पसन्द करते थे ।"[1] शायद इसीलिए इस साहित्य का वर्ण्य विषय प्रधानतः राजपूत राजाओं का यशोगान, युद्ध कौशल, धर्माभिमान और वैभव चित्रण ही है ।[2]

सामाजिक तत्व :-

आदिकालीन हिन्दी काव्य की दोनों धाराओं के पृथक-पृथक सामाजिक प्रेरणा स्रोत हैं । सिद्धों - नाथों द्वारा अपभ्रंश भाषा में लिखे गए साधनात्मक काव्य की सामाजिक पृष्ठभूमि निश्चित रूप से डिंगल भाषा में लिखी गयी चारणों की वीरगाथाओं की सामाजिकता से पृथक है । ईसा की पहली शताब्दी से इधर-उधर बौद्ध धर्म महायान और हीनयान नामक दो सम्प्रदायों में बँट कर फैलने लगा था । महायानी सम्प्रदाय के क्षेत्र से आगे चलकर मन्त्रयान और वज्रयान की साधना पद्धतियों का अभ्युदय हुआ । इन वज्रयानियों ने धर्म पन्थ की कठोरता को अपदस्थ कर सरल सहज व्यवहार और व्यावहारिक पद्धति के संचयन का शुभारम्भ किया । इससे यह धार्मिक साधना पद्धति सहजयान के नाम से भी जानी जाती है । सिद्ध इसी सहजयान सम्प्रदाय के साधक थे । जिनकी संख्या 84 बताई जाती है ।[3] ये 84 सिद्ध समाज की विभिन्न जातियों और विभिन्न उच्च निम्न वर्गों से सम्बद्ध थे । इनकी सामाजिकता धर्म जाति, वर्ण की सीमा संकोच से परे थी ।

नाथ सम्प्रदाय के प्रमुख नौ नाथों की जीवन चर्याओं का अवलोकन करने के उपरान्त भी यही बात सामने आती है कि सामाजिक स्तर पर यह नाथ भी सहजता के ही कायल थे ।

- -

1- भारत का इतिहास : पृ० - 205

2- हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास : पृ० 54 - 55

3- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० -5 .

आदिकालीन भारत की सामाजिक स्थिति देखने परखने से ऐसा लगता है कि उस समय देश कई आंचलिक भूमियों में बंटा था। उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्य, और पूर्वा पर समुद्र के बीच स्थित आर्यावर्त्त में आर्य बसते थे। हिमालय की उत्तरी श्रृंखलाओं और पूर्वोत्तरी भुजाओं में किरात जाति के लोग रहते थे जिनमें यक्ष, किन्नर, गन्धर्व और किंपुरुष आदि जातियाँ सम्मिलित थीं। विन्ध्य मेखला में आग्नेय वंश की शबर पुलिन्द आदि जाति का निवास था।[1] यह विवरण महाभारत के वन पर्व में प्राप्त था। कहने की आवश्यकता नहीं कि आर्यावर्त्त आदिकाल से अनेक जातियों की सामाजिक रचना से प्रभावित रहा है।

अलबेरूनी में 11वीं शती वि0 के उत्तरार्ध में सामाजिक ढांचे में जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है उनमें चार वर्गों का स्पष्ट निर्देश है[2]–

(1) राजा और सामन्त।

(2) भिक्षु, पुरोहित और धर्मशास्त्री।

(3) वैद्य, ज्योतिषी और वैज्ञानिक।

(4) कृषक और शिल्पी।

हिन्दू अपनी जाति को वर्ण या रंग कहते थे। इनमें ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ जाति थी और द्वितीय स्थान क्षत्रियों का था। किन्तु क्षत्रिय और ब्राह्मणों में बहुत अधिक अन्तर नहीं रहा। इसके बाद वैश्य और शूद्र थे। किन्तु 10वीं शती के पूर्व जातियों की संख्या अधिक नहीं थी।[3] कालक्रम से धार्मिक उथल-पुथल प्रारम्भ हो गया। धर्म और राजनीति की इस दयनीय और अस्थिरता पूर्ण स्थिति में सामाजिकता का उच्च स्तर समाप्त हो गया। जाति का आधार गुण और कर्म न होकर वर्ण माना जाने लगा। अनेक उपजातियाँ रची गईं, छुआछूत के नियम कड़े होते गए। धार्मिक रूढ़ि के कारण समाज भी रूढ़िग्रस्त हो गया। दूसरी ओर उस समय सामन्ती वीरता और वंश कुलीनता का बोलबाला था। राजपूत जाति की उल्लेखनीय विशेषता उसकी वीरता और आत्मोत्कर्ष था। राजपूत नारियाँ भी इस दिशा में किसी से पीछे नहीं रहीं। जौहर उनके आत्म

1- महाभारत : वन पर्व : 180

2- हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास : पृ0 105-6

3- वही : पृ0 -106

बलिदान और शौर्य का प्रतीक है । स्वयंवर विवाह की प्रथा तो थी पर कभी-कभी इस पवित्र कार्य में भी खून की नदियां बह जाया करती थीं । राजपूत संकल्पवान, स्वामिभक्त, ईमानदार, कूटनीतिज्ञ और दूरदर्शी नहीं थे । उनमें भोग विलास के प्रति खूब आसक्ति थी । इस सामाजिक अवस्था का चित्र तत्कालीन हिन्दी साहित्य में पूर्ण रूप से चित्रित है । तत्कालीन काव्यों के अध्ययन से उस समय की सामाजिक दशा के ह्रासोन्मुख होने का पता चलता है । राजाओं का जीवन विलासमय था । ऐश्वर्याभिभूत नृपति वर्ग का अधिकांश समय अन्तःपुर में अपनी महिषियों, उपपत्नियों तथा रक्षिताओं के साथ रंगरेलियों में बीतता था । राजा बहु पत्नीक थे । राजकुमारों को राजनीति व्याकरण, तर्क शास्त्र, काव्यों, नाटक, वात्स्यायन, रचित काम-शास्त्र, गणित, नवरस, मन्त्र, तन्त्र एवं वशीकरणादि की नाना विधियों की 'शिक्षा' दी जाती थी । स्त्री के सम्बन्ध में उस समय के समाज की धारणा कोई उच्च नहीं थी । उसे केवल भोग और विलास की सामग्री मात्र समझा गया ।[1]

सामन्तों के दरबार में विविध रूप से प्रशंसा एवं प्रशस्ति गाने वाले अनेक जातियां राजस्थानी समाज में फैली हुई थी । ऐतिहासिक सन्दर्भ में यह स्वीकार किया गया है कि चारणों के अतिरिक्त डिंगल भाषा में सामन्तों का गान करने वाली जातियों में ब्रह्मे, भाट्टमा, मोतीसर, भाट, रावल, संग, ओसवाल, राव, ढोली आदि का उल्लेख मिलता है ।[2]

इस विवेचन से यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि आदिकालीन समाज की सीमाओं में विवश होकर एक ओर धार्मिक और दूसरी ओर सामन्तीय प्रवृत्तियों के पल्लवन के दो सुअवसर काव्य के स्तर पर सम्भव थे ।

राजनीतिक प्रेरणा :-

आदिकालीन काव्य की राजनीतिक प्रेरणा भूमि भारतीय इतिहास की संक्रमण कालीन स्थितियों से उद्भूत है । चिरन्तन काल से देश में संस्थापित भारतीय नरेशों का तेज विधर्मी विदेशियों से गर्हित होने लगा था । किन्तु इस समय तक चक्रवर्तित्व, देश की एकता और समष्टि का आदर्श तथा उसका भाव जनता और

1- हिन्दी साहित्य:युग और प्रवृत्तियां : पृ० 22-23
2- डा० नारायण सिंह भाटी : डिंगल गीत साहित्य : पृ० 8

साहित्य में वर्तमान था । देश में वंशगत शासन होने पर भी जनमानस में देश का अखण्ड विश्व विग्रह के रूप में चित्रित था । इसी बीच काल पुरुष के ऐतिहासिक करवट लेने से देश में विघटन और विभाजन की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ने लगीं । हर्ष बर्धन के काल में ही भारत के मुख्य दो विभाजन हो गए । पश्चिमी राजस्थान और मालवा में गुर्जर प्रतिहारों का राज्य था । शकंभरी के चाहुमान (चौहान) अपने राज्य का विस्तार कर रहे थे । मगध में परवर्ती गुप्त, बंगाल में गौड़ और प्राग्ज्योतिष में वर्मन वंश के राज्य थे । कर्ण, सुवर्ण, ओड, उत्कल आदि में भी कई स्थानीय राज्य बन गए । 8वीं शती के पूर्वार्ध में कान्यकुब्ज एक बार पुनः जग उठा । मौखरी वंश के यशोवर्मन ने अपनी विशाल सेना की सहायता से भारत का दिग्विजय किया । इसका उल्लेख वाक्पतिराज के गौड़वहो नामक प्राकृत महाकाव्य में मिलता है । किन्तु इससे राजनीतिक एकता स्थापित न हो सकी । यशोवर्मन कश्मीर के राजा ललितादित्य से पराजित हुआ और उत्तर भारत में फिर अनवस्था फैल गयी । इसके पश्चात् कान्यकुब्ज में प्रतिहार तथा गाहड़वाल वंशों ने तुर्कों के आक्रमण तक शासन किया । इन राजवंशों का पूर्व में बंगाल के पालों तथा सेनों, दक्षिण में चंदेल, चेदि तथा परमारों और पश्चिम में चौहान, तोमर, शाही और आगे चलकर तुर्कों से बराबर संघर्ष, मैत्री, सन्धि और पुनः युद्ध की प्रक्रिया चलती रही ।[1]

सामन्तों का केन्द्र स्थान राजपूताना या राजस्थान रहा । तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियाँ अपनी समग्रता में इसी राजन्य वर्ग की निवास भूमि-मरु भूमि में आघटित हो रहीं थीं और इस राजस्थान की अपनी कुछ विशिष्ट विशेषताएँ ऐसी थीं कि जिनसे आदिकालीन काव्य की प्रशस्तिमूलक प्रेरणाएँ भी मिलती रहीं । जहाँतक इतिहास का सम्बन्ध है यहाँ के रणबांकुरों की रक्तरंजित गौरव गाथाएँ भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखी गयी हैं ।[2] हमारे प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों में राजस्थान और राजस्थानी के स्थान पर मरुदेश, मरुधर और मरुदेश भाषा, मरुभाषा इत्यादि शब्द मिलते हैं परन्तु राजस्थान शब्द से हम जिस भू-भाग का आशय ग्रहण करते हैं, वह मरु देश के अन्तर्गत भू-भाग से भिन्न है । प्राचीन ग्रन्थों में जहाँ

1- हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास : पृष्ठ 35-36

2- डा० मनोहर प्रभाकर : राजस्थानी साहित्य और संस्कृति : पृष्ठ- ।

मरु देश आता है, वहाँ मेवाड़ देश, मालवा देश, ढूंढाड़ देश इत्यादि आते हैं। अतः हमारा राजस्थान केवल मरु देश का पर्याय न होकर उक्त सम्पूर्ण भू-भाग का समन्वय है और इसी आशय में टॉड, ग्रियर्सन, टेसीटरी आदि विद्वानों ने इसका प्रयोग किया है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि विशाल प्रदेश राजपूताना की सामन्तीय बोधवाली राज्य व्यवस्था की गतिविधियाँ, सामन्तवादी अथवा प्रशस्तिमूलक भाव से आदिकालीन काव्य को आकार दे रही थी।

भौगोलिक प्रेरणा तत्व :-

आदिकालीन काव्य में प्रतिफलित होने वाले विषय वस्तु को, सम्बन्धित प्रदेश के भौगोलिक वातावरण से भी प्रभावित होना पड़ रहा था। राजस्थान का पानी और यहाँ की मिट्टी, रेत और पथरी प्रदेश सब कुछ इस पर जन्मने वाले प्राणियों को जीवन के लिए संघर्ष को निमन्त्रण देते हैं। आदिकाल में इस प्रदेश का सम्पूर्ण भाग छिन्नभिन्न होकर टुकड़े-टुकड़े हो गया। भौगोलिक दृष्टि से विशाल भारत में जो छोटे-छोटे अनेक भूगोल रच गये थे। देश के राजनैतिक विघटन और सामन्तवादी प्रथा के कारण साधारण जनता की दृष्टि से देश की इकाई समष्टिओझल हो गयी। अखिल हिमाचल देश की मूर्ति को उसकी आँखें नहीं देख सकती थीं और न तो सम्पूर्ण देश के हित रक्षण की भावना ही उसके हृदय में लहराती थी। उसकी दृष्टि अब खण्ड दृष्टि थी। अब भारत के बदले प्रान्तीय राज्यों और राजवंशों का महत्व बढ़ गया। गुर्जरात्रा, शकंभरी, अवन्ति, चेदि, जेजाकभुक्ति, कान्यकुब्ज आदि विभिन्न राजवंशों के अधीन खण्डित देशभक्ति पनपने लगी। इनके नामों पर इनके यश और विस्तार के लिए युद्ध होने लगे और दूसरे प्रदेशों में जाने पर भी इन्हीं नामों से सम्बोधित होना लोग पसन्द करने लगे।[2]

भारत की विशाल भौगोलिक सीमा जब टूटी तो उससे छोटे-छोटे भूखण्डों ने अपने बीच शक्ति और सीमा के लिए संघर्ष शुरु कर दिया। निदान वीरता ही नहीं बर्बरता भी साहित्य का उपजीव्य बन बैठी।

1- डॉ० मनोहर प्रभाकर : राजस्थानी साहित्य और संस्कृति : पृष्ठ -33

2- हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास : भाग 1 : अध्याय 2 : पृ० 38-39

मनोवैज्ञानिक प्रेरणा तत्व :-

फ्रायड ने दो महत्वपूर्ण वृत्तियां मानी हैं -

(1) जीवन वृत्ति (Eros)

(2) मरण वृत्ति (Thanatos) .

भारतीय संस्कृति में इसी को जिजीविषा और मुमूर्षा कहा गया है। डा० कन्हैयालाल सहल ने फ्रायडियन विचारों के दबाव में जीवन वृत्ति का लक्ष्य, जीवन तथा जाति का संरक्षण मानते हुए यह बताया है कि यह वृत्ति अहं और कामेच्छा दोनों के कार्यों का समन्वय है। जिजीविषा और मुमूर्षा नामक दो वृत्तियों के प्रसंग में तनाव सिद्धान्त को भी समझ लेना आवश्यक है। कुर्ट लेविन ने तनाव की धारणा का अन्वेषण किया जिसके अनुसार ध्येय की प्राप्ति पर ही तनाव दूर होता है। मनुष्य का जीवन ही एक प्रकार के तनावों की समष्टि है। जिजीविषा का काम यह है कि वह मनुष्य के तनावों को दूर कर उसे सुखी बनाने का प्रयत्न करती है। किन्तु यह प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है कि मुमूर्षा के होते हुए जिजीविषा किस प्रकार अपना काम पूरा करती है। फ्रायड कहता है - मुमूर्षा जब स्वयं को न मिटा कर दूसरों को मिटाने का काम करने लगती है तो उसकी अभिव्यक्ति का मार्ग मिल जाता है। यदि व्यक्ति दूसरों पर आक्रमण न करे तो मुमूर्षा उसे आत्महत्या की ओर ढकेल ले जाये।[1]

इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को प्रतिपादित करने में डा० सहल राजस्थानी साहित्य में शौर्य वृत्ति के मनोवैज्ञानिक आधार का विश्लेषण करना चाहते हैं। जहां स्पष्ट बात है कि आक्रमण की यह प्रवृत्ति अपनी जातीय युवावस्था में डिंगल भाषा में लिखी गयी चारणों की वीरगाथाओं की उत्प्रेरिका है।

साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रेरणा तत्व :-

हिन्दी साहित्य की रचना के विचार से जिसे हम आदिकाल कहते हैं, वह अपनी सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से द्विधा पूर्ण है। 5वीं

(1- अनुसन्धान और आलोचना : पृष्ठ 308

से लेकर 10वीं शताब्दी तक का सांस्कृतिक प्रवाह महायान और वज्रयान की साधना पद्धतियों से प्रसूत सिद्धों - नाथों की सांस्कृतिक चेतना धारा के उच्छलन से देश की धर्म भूमि सिंचित होती रही । इस कारण से कार्य स्वरूप साहित्य का सर्जना-क्षेत्र साधनामूलक हो गया । सिद्धों - नाथों की संस्कृति ही उनके साहित्य में अभिव्यंजित हो उठी । अपभ्रंश को माध्यम के रूप में चुना गया । 'जिसे हम पुरानी हिन्दी भी कहते हैं । हिन्दी का आदिकालीन प्रथम अर्ध भाग इसी धर्म प्रधान सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्पराओं के अनेकानेक रूप को प्रेरित और प्रतिफलित करता रहा । पिछले पृष्ठों में इस पर पर्याप्त चर्चा की जा चुकी है ।

दसवीं से 14वीं शती के बीच भारतीय संस्कृति और साहित्य की परम्पराएं सामन्तीयता का अनुधावन करती हैं । ये सामन्त राजपूताना क्षेत्र में केन्द्रित थे तथा राजन्य वर्ग के रूप में जन-जीवन द्वारा सम्मानित हो रहे थे । समाज में प्रायः दो ही वर्ग थे - शासक और शासित । इसलिए इनके दरबारों में रह कर, इस संस्कृति से प्रभावित होने वाले कवियों की रचनाएं इनके प्रशस्तियों के प्रति दायित्व निर्वाह कर रही थीं । उच्च कोटि के सांस्कृतिक और साहित्यिक आयामों से जो उत्प्रेरणाएं लोकीय धर्म का स्वरूप निर्धारित कर रही थीं, उससे अलौकिक - लौकिक प्रशस्ति वर्णन को बढ़ावा मिल रहा था ।

यह भी सत्य है कि "जब प्राकृत बोलचाल की भाषा न रह गयी तभी अपभ्रंश साहित्य का आविर्भाव समझना चाहिए । पहले जैसे 'गाथा' या 'गाहा' कहने से प्राकृत का बोध होता था वैसे ही पीछे 'दोहा' या 'दूहा' कहने से अपभ्रंश या लोक प्रचलित काव्य भाषा का बोध होने लगा । इस पुरानी काव्य भाषा में नीति, श्रृंगार, वीरता आदि की कविताएं तो चली ही आती थीं, जैन और बौद्ध धर्माचार्य अपने मतों की रक्षा और प्रचार के लिए भी इसमें उपदेश आदि की रचना करते थे । x x x इस प्रकार स्थिति के साथ ही साथ भावों तथा विचारों में भी परिवर्तन हो गया । पर इससे यह न समझना चाहिए कि हम्मीर के पीछे किसी वीर काव्य की रचना नहीं हुई । समय-समय पर इस प्रकार के अनेक काव्य लिखे गए । हिन्दी

1- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृष्ठ - 10

साहित्य के इतिहास की एक विशेषता यह भी रही है कि विशिष्ट काल में किसी रूप की जो काव्य सरिता वेग से प्रवाहित हुई, वह यद्यपि आगे चल कर मन्द गति से बहने लगी, पर 900 वर्षों के हिन्दी साहित्य के इतिहास में हम उसे कभी सर्वथा सूखी हुई नहीं पाते ।"[1]

इस प्रकार उक्त वक्तव्य के आधार पर भी यही सिद्ध होता है कि अपभ्रंश और डिंगल भाषा, जैन बौद्ध और क्षात्र धर्म, धर्म एवं युद्ध ही इस 900 वर्ष के साहित्यिक वैभव के विषय थे ।

ऐतिहासिक प्रेरणा तत्व :-

आदिकालीन साहित्य के जन्म के साथ इतिहास देवता के क्रिया-कलापों में परिवर्तन हो देखा जाता है । इस दृष्टि से शक, हूण, गुर्जर जातियों का आक्रान्ता के रूप में इस देश में आगमन, हिन्दू धर्म के विरुद्ध जैनियों और बौद्धों के विरोध, विद्रोह, विदेशी जातियों का हिन्दू धर्म में स्थिति में ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रीयकरण, क्षुद्र भू-खण्डों के शासक रूप में रह कर क्षत्रियों के लिए सम्राज्य की स्थापना आदि देकर इतिहास पुरुष ने देश को बहुत ही दुर्बल और दीन बना दिया था । विवेच्य काल की ऐतिहासिक गतिविधियों पर प्रकाश डालते हुए डा० हंस ने अपने जो विचार व्यक्त किए हैं उनसे भी आदिकालीन साहित्य के स्वरूप के निर्माण की दिशा प्रकाशित होती है ।

"शक, गुर्जर, हूण आदि बर्बर जातियां जिस समय इस देश में आई, बौद्ध और जैन धर्म उस समय भारत में पूर्ण प्रभावी थे । बौद्धों ने इन्हें उपासकों का दर्जा दिया तो ब्राह्मणों ने इन्हें क्षत्रीत्व प्रदान किया । यह नवागत क्षत्रिय राजा ज्यों-ज्यों सशक्त होते गए, ब्राह्मणों को बल मिलता गया और बौद्ध दुर्बल होते गए । 6वीं - 7वीं शती में बौद्धों के वज्रयान का पूर्वी भारत में खूब प्रसार था । विक्रम शिला और नालन्दा इसके केन्द्र थे । वज्रयान सिद्ध सरहपा द्वारा सहज यान बना तब तक मुहम्मद बिन कासिम का आक्रमण हो गया । बौद्धों की अपार संचित धनराशि मठों से लूटकर बौद्ध भिक्षुओं का सामूहिक संहार कर दिया गया । बचे खुचे बौद्ध

1- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ0 - 60

भिक्षु तिब्बत, लंका, स्याम चले गए । बौद्ध धर्म जहां जन्मा था, वहां से अलग फैलने-फूलने लगा । - - - जैन धर्म भी उन दिनों राष्ट्रकूट में 8वीं से 13वीं शती तक गुजरात के सोलंकी राजाओं को प्रभावित करता रहा । अपभ्रंश की सबसे अधिक रचना इन्हीं जैन सन्तों द्वारा की गयी । उधर 7वीं शती में हर्षवर्धन का अवसान हुआ, बाणभट्ट इसका दरबारी था । तात्पर्य यह कि देश को अब तक नई शक्ति की, नये शौर्य की आवश्यकता थी जो नवचेतना ला सके, रक्षा की शक्ति दे सके, जो देश, धर्म एवं जाति को बचा सके । कवियों ने इस मौके पर देश की आकांक्षा को पूरा किया ।"[1]

निष्कर्षतः तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक, सामन्तीय, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक तथा ऐतिहासिक प्रेरणाएं पुरानी हिन्दी (अपभ्रंश) को धार्मिकता से अनुप्राणित कर रही थी और डिंगल भाषा को वीरगाथाओं की सौगात दे रही थी । "यह बात इस युग के हिन्दी साहित्य के अध्ययन से भी स्पष्ट हो जाती है । इस काल की कविता में राजपूतों को ही अवतरित किया गया है । किन्तु केन्द्रीय शक्ति के अभाव में लोग अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग अलाप रहे थे । उत्तरी भारत में दिल्ली, अजमेर, कन्नौज, धार तथा कालिंजर के राज्य प्रसिद्ध थे । इनमें क्रमशः तोमर, चौहान, राठौर, चालुक्य, चन्देल राजपूत राज्य करते थे । इन राजपूतों में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष का प्राबल्य था । नवीन वैदिक धर्म ने इन्हें उत्साह तो प्रदान किया किन्तु उसमें स्थायित्व न था । समाज में भीतर से घुन लग गया था और जाति निर्बल हो रही थी । ठीक ऐसे समय तुर्कों ने पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण किया । राजपूत वीर हंसते-हंसते बलिदान होने लगे किन्तु उत्साह से उत्तेजित नवागत शत्रुओं को रोक रखना किसी एक राजा का कार्य न था ।"[2]

संसार और सांसारिकता दिन-प्रतिदिन, सदा-सर्वदा परिवर्तनशील रही है । जातीय जीवन और उसका साहित्य भी सदा एक सा नहीं रहता । देव वाणी की काल जयी कृतियों के ध्वंसावशेष पर प्राकृत भाषाएं पुष्पित पल्लवित हुईं, अपभ्रंश

- -

1- हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास : पृष्ठ - 11

2- वीर काव्य : पृष्ठ - 20

भाषा जन्मी, राजनीति, समाज, अर्थ और धर्म के परिवेश पलट गए और इसीलिए नये धर्म और नये सामन्तीय उन्मेष से तत्कालीन काव्य में देवी और लौकिक विरुदावलियों के स्वर की मुखरता की सम्भावना के द्वार खुलते दिखाई पड़ने लगे । देखना यह है कि इन परिस्थितियों से स्थापित होने वाले आदिकालीन काव्य में प्रशस्ति की औचित्य क्या है ?

युगीन काव्य में प्रशस्ति की अवश्यम्भाविता

हिन्दी का आदिकाल धार्मिक दृष्टि से हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्म के विरोधात्मक तनाव से परिपूर्ण रहा । जैन और बौद्ध धर्म के अनुयायी साहित्यकार जिन और बुद्ध की चरितावली, शिक्षा, दीक्षा, साधना पद्धति की प्रशंसा के गीत गाते हुए अपने-अपने धर्म और धर्मगुरुओं की विरुदावली की उपासना का अनिवार्य अंग समझने लगे थे । दूसरी ओर भट्ट कुमारिल और आचार्य शंकर की पुनरुत्थानवादी चेतना के संवाहक क्षत्रिय नरेश भारत के केन्द्र स्थल दिल्ली, राजपूताना, कन्नौज, कालिंजर में 9वीं शताब्दी से लेकर लगभग दो वर्षों तक वैदिक संस्कृति का जयध्वज हाथ में लेकर वीर भाव की अनुभूति से वीरभोग्यावसुंधरा को चरितार्थ कर रहे थे । यदि जैनियों, सिद्धों और नाथों ने अपने काव्य में धार्मिक महिमा वाली प्रशस्ति का पन्थ प्रशस्त किया तो चारणों ने लौकिक नरेशों की कालजयी वीरता के साथ लड़न्तिहारों को यशगाथाएँ गायीं । उभय प्रकार की काव्यधाराओं में चाहे वह धार्मिक हो चाहे वीरतामूलक, प्रशस्ति ही प्रधान थी ।

इस तथ्य के साक्ष्य में अनेक विद्वानों के विचार मिलते हैं । माना यह गया है कि "देश की राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति का साहित्य पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है । यह बात इस युग के हिन्दी साहित्य के अध्ययन से भी स्पष्ट हो जाती है । इस काल की कविता में राजपूतों को सुसंगठित कर उन्हें तुर्कों के आक्रमण से देश की रक्षा करने में दत्तचित्त बनाने की प्रवृत्ति नहीं मिलती अपितु इसके विपरीत कविगण अपने हैं । आश्रयदाताओं के शौर्य, पराक्रम की प्रशंसा में ही परम सन्तोष मानते हैं । इस प्रकार की कविता के लिए जहाँ वीर पूजा की भावना तथा देश की आन्तरिक परिस्थिति से उत्तेजना मिली है वहाँ आश्रयदाताओं से धन लाभ की आशा ने भी कम सहायता नहीं की है । इसका एक प्रत्यक्ष परिणाम तो यह हुआ कि देश की अपेक्षा

व्यक्तियों को प्रधानता मिली और अतिशयोक्ति तथा अतिरंजना से हिन्दी कविता आप्लावित हो उठी ।"[1]

डिंगल भाषा में लिखे गए काव्य का अधिकांश भाग अपनी मूल वस्तु के रूप में विभिन्न प्रकार की प्रशस्ति पद्धति का ही रहा है । कारण यह है कि इस काव्य में जिन चरित्रों और कथाओं को अंगीकार किया गया है उनमें नायक - नायिकाओं के रूप में आने वाले राजा - रानियों के अंग उपांग का वर्णन आश्रयदाता की प्रशंसा ही थी, उनके दरबार, हाथी घोड़ों, महल प्रासाद आदि का वस्तु वर्णन वैभव गान ही था, उनके दान, मान, सम्मान की बातें यशोगान हो रहीं, उनके युद्ध-कौशल के जीवन्त चित्र ही उनके काव्य के मुख्य विषय हो थे, समेकित रूप से डिंगल भाषा का समूचा काव्य सम्पूर्ण रूप से प्रशस्ति के ही वैतरी द्वार खोल रहा था । रही सिद्धों, नाथों और जैनियों की अपभ्रंश भाषा वाली कविता की बात, वह भी लौकिक न रहो पारलौकिक सत्ता की शक्ति के महत्व पर ही टिकी हुयी थी । इसे कुछ लोग दैवी कोटि की प्रशस्ति भावना मानते हैं । मैं कहना यह चाहती हूँ कि अपभ्रंश भाषा में ईश्वर की स्तुति का और इसीलिए ईश्वरीय प्रशस्ति का भाव ही केन्द्रिय भाव है । "डिंगल के कवि वीरों के देश में पैदा हुए थे, वीरता के वायुमण्डल में पले थे और स्वयं भी वीर होते थे । इसलिए अपनी कविता में भी वे वास्तविकता का जीवन फूंक देते थे ।"[2] वीरता के वास्तविक आधार वाले इस काव्य में और चाहे कुछ न हो, वीरों का यशगान से भरा पड़ा है । एक वीरांगना की मनः स्थिति नीचे प्रमाण रूप में दी जा रही है -

> धव धाता धक्किया घणां, हेलो आदे दोठ ।
> मारग्गिओ वधू दाण, लीलो रंग मजीठ ॥ 1 ॥
> पिउ केसरियां पट किया, हूं केसरिया चीर ।
> नाहक लायो चूंदड़ी, जलती वेला बीर ॥ 2 ॥
> पंथी हेक संदेसड़ो, बाजल बनै कहियाह ।
> जायां थाल नवज्जिया, दामक दहदहियाह ॥ 3 ॥[3]

-5-5-

1- वीर काव्य : पृष्ठ - 20

2- डिंगल में वीर रस : पृष्ठ - 25

3- वही : पृ0 25 - 26 से गृहीत ।

यही नहीं राजस्थान ने जिस साहित्य का निर्माण किया है, वह अद्वितीय है । राजपूतों के कवियों ने जीवन की कठोर वास्तविकताओं का स्वयं सामना करते हुए युद्ध के नक्कारों की ध्वनि के साथ स्वाभाविक काव्यगान किया । उन्होंने अपने सामने साक्षात् शिव के ताण्डव की तरह प्रकृति का नृत्य देखा था । राजस्थानी भाषा के प्रत्येक दोहे में जो वीरत्व की भावना और उमंग है, वह राजस्थान की मौलिक निधि है और समस्त भारत वर्ष के गौरव का विषय है । उसमें आज भी बल और ओज है ।[1]

जो स्थिति डिंगल भाषा की रचनाओं में वीरता मूलक प्रशस्ति की सम्भावना को जन्म देती है, वही स्थिति अपभ्रंश भाषा में लिखी गयी सिद्धों-नाथों की रचनाओं में देवी प्रशस्ति की पृष्ठभूमि का निर्माण करती है । इसमें कोई दो राय नहीं कि इस काल के उभय कोटि के काव्यों में प्रशस्ति का स्वर अवश्यम्भावी था । महा पण्डित राहुल ने प्रस्तुत काल को 'सिद्धसामन्त' युग के नाम से अभिहित किया है और उन्होंने उसकी पूर्वापर सीमाएं 8वीं शती से 13वीं शती तक निर्धारित की है । उन्हें इस काल के साहित्य में दो प्रमुख प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर हुई हैं - सिद्धों की वाणी और सामन्तों की स्तुति । सिद्धों की वाणी के अन्तर्गत बौद्ध, नाथ सिद्धों तथा जैन मुनियों की रहस्य एवं उपदेश मूलक और हठयोग की महिमा रूप क्रिया का विस्तार के प्रचार करने वाली रहस्य मूलक रचनाएं आती हैं । कुछ उत्कृष्ट जैन मतावलम्बी कवियों की धार्मिक और आध्यात्मिक भाव धारा के चरित काव्य भी इसी अन्तर्गत हैं । सामन्तों की स्तुतिमूलक कविताओं अथवा चारण काव्यों में आश्रयदाताओं के यशगान हैं । इनमें कवियों ने युद्ध विवाह आदि का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन किया है ।[2] इन रासो काव्यों और चरित काव्यों की मूल प्रवृत्ति एक ही है । राजाओं के धन, वैभव, पराक्रम और बहु विवाहों का वर्णन दोनों काव्यों में समान रूप से मिलता है । रासो ग्रन्थों में वीर नायकों द्वारा भोगों का त्याग युद्ध भूमि में होता है जबकि चरित काव्यों के नायकों द्वारा भोगों का त्याग वैराग्य की स्थिति में होता है । जिस दृष्टि से जिस पक्ष पर विचार किया जाता है वही उसी दृष्टि से प्रशस्ति की सम्भव दिखाई पड़ती है ।

इस विवेचन और विश्लेषण से परिणाम यह निकलता है कि आदिकाल की

---

1. कवीन्द्र रवीन्द्र का भाषण : 18 फरवरी सन् 1937 में राजस्थान रिसर्च सोसायटी के तत्वाधान में । जो मार्डन रिव्यू 1938, पृष्ठ 710 पर दि चार्म्स आव् राजपूताना शीर्षक से प्रकाशित ।

2. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियां : पृ0 - 13

साहित्य साधना जो 5वीं से लेकर 10वीं शती तक अपभ्रंश भाषा या पुरानी हिन्दी के साहित्य के रूप में सामने आई, उसमें प्रशस्ति का स्वरूप सम्भावित तो अवश्य है किन्तु प्रशस्ति शब्द का सामान्यतया जिस लोकाराधना से अर्थ लिया जाता है, उससे भिन्न है। है तो वह भी कवि की मानसिकता का वही उद्रेक जो त्राण दे सकने वाली, सम्मान दे सकने वाली राज शक्ति का गुणगान करने को प्रेरित करती है। अन्तर तो भाव दशा का है, भाव तो एक ही है। सिद्धों - नाथों का अपना एक काल्पनिक किन्तु फिर भी सच्चा मनोराज्य था, जहाँ उन्हें आनन्द के सारे सरंजाम सुलभ थे और उस मनोलोक का राजा परात्पर प्रभु था। इसलिए परात्कोटि की शक्ति की रक्षात्मक अनुभूति के प्रति किया गया यशगान प्रशस्ति को लोकोत्तर पृष्ठभूमि की संरचना करती है।

वीरगाथाएँ यद्यपि लोक नरेशों की वीरता के वितान तान रही थीं, फिर भी इन सामन्तों पर पड़ने वाले भारतीय संस्कृति की सनातन परम्पराओं के अक्षुण प्रभाव ने देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धेय एवं आराध्य भाव सर्वत्र बनाए रखा। परिणामतः यह अनिवार्य था कि लौकिक प्रशस्ति के अनुकूल वातावरण रचने वाली ये वीरगाथाएँ देवी प्रशस्ति का स्वर भी कहीं न कहीं उभार उभड़ दीं। यही हुआ भी है। यह ही जाना अनिवार्य इसलिए था कि सामन्त राज कुल गर्दा पर अपना धर्मदृष्टित को अपने कलेजे से लगाए रहे। दूसरी ओर अपभ्रंश भाषा में साधना की श्रेष्ठोत्तम सम्पदा लेकर आने वाली रचनाएँ तो विशुद्ध देवी कोटि की थीं, किन्तु इस भाषा में दर्जनों चरित काव्य भी लिखे गए हैं। इनमें उस प्रकार की प्रशस्ति के फलित होने का अनुमान किया जा सकता है जिस स्वर के गायक सामन्तों के आश्रित कवि थे। तात्पर्य यह कि जब सिद्धों-नाथों तथा जैनी कवियों ने धर्म विशेष के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया तब उन्हें इस धर्म को मानने वाले या इसको प्रश्रय देने वाले राजाओं और धर्म गुरुओं की लोकस्तरीय प्रशंसा करने की अनिवार्यता हो गई भी। लगता ऐसा है कि एक ओर बौद्धों और जैनों का प्रभाव घटता जा रहा था तथा दूसरी ओर ब्राह्मण धर्म देश की मानसिकता के मञ्च की ओर बढ़ रहा था। बौद्धों और जैनियों की अतिशयतावादी अहिंसा से उत्पन्न क्लीवता से उबरकर भारत का मन पुनः पौरुष की ओर बढ़ने की कोशिश कर रहा था। यह एक विचित्र काल है जिसमें पलायन की भावना त्याग कर संघर्ष झेलने के लिए भारतीयता पुनः उठ खड़ी हुई थी। यही कारण है कि 8वीं शताब्दी तक आते-आते अनेकानेक रूपों में बिखरी धार्मिकता वीरता के ढाने में मिट्टी के सा, जगत के साथ तादात्म्य स्थापित करने लगी। संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि अपभ्रंश और डिंगल भाषा की रचनाओं में अनुगुंजित

निवृत्ति और प्रवृत्ति की भावना ने निश्चित रूप से साहित्यकारों को प्रभावित किया होगा ।

जैन और बौद्ध धर्म में रमे हुए कवियों में लोक सम्पदा, लौकिक सुख, पार्थिव वैभव की बात आ भी नहीं सकती थी । क्योंकि आरम्भ में बौद्धों ने जिस सांसारिकता को त्यागने का आडम्बर रचा, बाद में उसी की आंच में जलकर यह धर्म यहाँ की धरती से गायब हो गया । लोग कहते हैं कि - "उनमें धर्म के नाम पर अनैतिकता और पाखण्ड की वृद्धि होती जा रही थी और पश्चिमी भारत में बौद्ध धर्म का प्रभाव उठता जा रहा था ।"[1] सामन्तों के दरबारी कवि धार्मिक जागरण से - कुमारिल भट्ट और आचार्य शंकर के उद्बोधन का प्रभाव ग्रहण करके भी लोक वैभव से पराङ्मुख नहीं हुए थे । 'उन्होंने वीर काव्य की रचना प्रारम्भ की और इस देश के वीर दर्शन क्षत्रियों को निर्भीक शिराओं में नवरक्त संचालन का प्रयास किया । उन्होंने उन वीरों के वर्तमान दर्शन में अपनी दैवत... को धन्य माना, जिन्होंने संग्राम भूमि में आ... आक्रमणकारियों का मद मर्दित किया । हिन्दी साहित्य के आदिकाल के उत्तरार्द्ध में आरम्भ होने वाली वीर काव्य धारा इसी का परिणाम है ।'[2] इसे हम अपने शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि वीरगाथाओं में उत्थानोन्मुख गौरव गान की सम्भावना थी और अपभ्रंश के धार्मिक काव्यों में सांसारिक पलायन के दैवी स्तुतियाँ प्रभावित थीं ।

हिन्दी साहित्य का विवेच्यकाल 5वीं 6वीं शती से लेकर 14वीं शती तक माना गया है किन्तु इसके समारम्भ को लेकर विवेचना करने वाले विद्वान एक मत नहीं हैं । अलग-अलग तर्कों के साथ अलग-अलग विचारकों ने अलग-अलग उद्भावक कालों की कल्पना की है । कुछ लोग 5वीं 6वीं, कुछ 7वीं 8वीं, कतिपय 9वीं और अधिकांश लोग 10वीं 11वीं शती में हिन्दी के उद्भव को स्वीकारते हैं । इनमें से कुछ लोग 13वीं शती में ~~[illegible]~~ हिन्दी भाषा और साहित्य के जन्मने की बात स्वीकारते हैं जिस समय समस्त भारतीय आर्य भाषाएँ अपना रूप ग्रहण करने लगी थीं ।

जहाँ तक इस विशाल काल खण्ड में उपलब्ध रचनाओं की भाषा और

1- हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास : पृ0 - 12

2- वही : पृ0 - 11

प्रवृत्ति की दृष्टि से विभाजित करने का प्रश्न है वह एकरूपता नहीं रखता । भाषा की दृष्टि से सारे विद्वानों की बात देख परख लेने के उपरान्त विवेच्य काल का सम्पूर्ण काव्य दो भागों में विभक्त है –

(अ) अपभ्रंश काव्य ।

(ब) वीरगाथा काव्य ।

अपभ्रंश भाषा अपने पुष्ट अपुष्ट रूप में 5वीं 6वीं शती से लेकर 9वीं 10वीं शती तक चलती रही । इस बीच 7वीं शती तक की जो रचनाएं उल्लिखित की जाती हैं वे प्रथमतः साहित्य की दृष्टि से महनीय नहीं हैं और द्वितीयतः प्रायः उपलब्ध भी नहीं होती । अतः इस अवधि को कुछ लोगों ने 'अन्धकार काल' भी कहा है । 7वीं से 9वीं शताब्दी तक की रचनाएं सुलभ भी हैं और उनमें साहित्यिकता का स्तर भी मान्य है । जैसा भी है, अपभ्रंश का 8वीं 9वीं शती तक चलता रहता है और इसके आगे 10वीं 11वीं से राजस्थानी चारणों की डिंगल भाषा में ही काव्य के स्वर मुखर होते हैं । वीरों की गाथाओं के अतिरंजित वर्णन वाले ये काव्य 'वीरगाथा काल' में रचे गये हैं । इन दोनों कालों के अन्य नामकरण भी हुए हैं । 'सिद्ध-सामन्त काल', 'सन्धि और चारण काल' जैसे नये नामों की अन्वेषणा हुई है । अपभ्रंश भाषा में 5वीं से लेकर 8वीं शती तक जो साहित्य रचा गया है उसके रचयिता प्रायः सिद्ध ही हैं । रचनाकारों की साधना सम्प्रदाय का नाम ही सिद्ध सम्प्रदाय था । इसलिए इस काल को इन्हीं सिद्धों के नाम पर सिद्ध काल कहा गया है । आदिकाल के उत्तरवर्ती साहित्य की समग्र रचना धर्मिता राजाओं के दरबारों में ही सम्पन्न हुई, सामन्त और सामन्तीय संस्कृति ही उसकी प्रेरणा और उसके प्रतिपाद्य विषय रहे । इस आधार पर वीरगाथा काल के पर्याय रूप में सामन्त काल नाम रखा गया है । यह नामकरण हिन्दी काव्य धारा में राहुल जी द्वारा अनेक तर्कों द्वारा स्वीकार किया जा चुका है ।

संस्कृत काव्य की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों के उस संक्रमण काल में जब मध्यकालीन आर्य भाषा के रूप में प्राकृतों का प्रभाव बढ़ रहा था, साहित्य की किसी सुनिश्चित परम्परा के अंकुर नहीं दिखायी पड़ रहे थे । प्राकृत के अन्तिम चरण के रूप में विकसित अपभ्रंश न तो सैद्धान्तिक रूप से हिन्दी के विकास में ढल पाई थी और न ही वह संस्कृत और प्राकृत की परम्परा को पूर्णतया छोड़ पाई थी । तात्पर्य यह कि यह अपभ्रंश प्राकृत

और हिन्दी के सन्धि स्थल पर व्यवहृत होने वाली एक ऐसी भाषा थी जो प्राचीन और आधुनिक भाषा और साहित्य को जोड़ने की एक कड़ी का काम कर रही थी । इसलिए इस भाषा काल को सन्धिकाल के संज्ञा प्रदान की गयी है । 10वीं 11 वीं से लेकर 14वीं शती तक जो काव्य लिखा गया है, उसमें चारण, सेवग, भाट, ढाढ़ी, मोतीदाम आदि राजस्थान की कुछ विशिष्ट जाति के ही कवियों ने कविताएं की है इसलिए काल के नामकरण पर जातिय प्रभाव का विचार किया गया है । सामान्य रूप से इसमें चारणों का महत्व अधिक माना गया है, इसलिए इन्हीं चारणों के नाम पर इस काल को 'चारण काल' कहा गया है । सिद्ध और चारण काल के नामकरण पर विशेष बल हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में डा0 रामकुमार वर्मा ने दिया है ।

इस काल के समूचे साहित्य को प्रेरित करने वाले तत्वों में मुख्य रूप से सक्रियता धार्मिक, सामन्तीय, राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक तत्वों ने ही निभायी है । जैन-बौद्ध और ब्राह्मण धर्म की विचारधारा तत्कालीन जीवन और साहित्य को प्रभावित किए हुए थी । जैनियों और बौद्धों के साधना संकुल भाव और विचार अपभ्रंश की अनेक रचनाओं को स्थायित्व होने में शक्ति एवं सम्बल दे रहे थे । ब्राह्मण अथवा हिन्दू धर्म की शौर्योपासना ही शक्ति के गायक सामन्तों की यशगाथा लिखने वाले चारणों को प्रेरित कर रही थी। समस्त राजस्थान की नगरी महोबा और कालिंजर में भी हिन्दू धर्म के वीर भाव के उपासना के परिणाम स्वरूप सामन्तों की जीवन पद्धति और काव्य रचना गतिमान थी । इसी प्रकार सामन्त जाति की विशिष्ट मान्यताएं, उनका रहन-सहन, खान-पान, दरबार, शासन व्यवस्था, साज-सज्जा, रण-प्रयाण, विवाह सम्बन्ध आदि अनेक तत्व वीरगाथाओं को प्रेरणा दे रहे थे । राजनीतिक दृष्टि से देश में जो हलचल और अस्थिरता उत्पन्न हो गयी थी उससे क्षुद्र स्वार्थवाद, सीमित भू-खण्ड की अन्धभक्ति, राजनैतिक वैमनस्य के प्रभाव से भी आदि कालीन काव्य के स्वर बदल रहे थे । समाज में सिद्धों - नाथों और उनके पूर्व बौद्धों ने वर्णाश्रम व्यवस्था को पूरी तौर से नकार दिया था । परिणामतः इनके व्यवहारिक जीवन और काव्य कृतियों में सामाजिक स्तर पर सवर्ण-असवर्ण, ऊँच-नीच का भेदभाव पूर्ण रूप से नहीं रह गया था । ईश्वरीय उपासना के धरातल पर सभी एक समान माने जा रहे थे । अपभ्रंश भाषा में रचे गये साधनात्मक काव्य में इसका प्रभाव प्रतिबिंबित होता है । सामन्तों की सामाजिक व्यवस्था सिद्धों-नाथों से भिन्न थी । शासक और शासित दो वर्गों में बंटे हुए थे । शासित जन जीवन शासकों का मुखापेक्षी था । इसलिए

इस सामाजिक व्यवस्था ने राजन्य वर्ग की जो महिमा बढ़ाई वह अपने उसी मूल रूप में काव्य में स्थापित हो उठी है ।

आदिकालीन काव्य जिस समय रचा जा रहा था, उस समय देश अलग-अलग अनेक स्वतन्त्र भू-खण्डों में एक स्वतन्त्र भौगोलिक इकाई बना हुआ था । प्रत्येक छोटे राज्य या ताल्लुके की अपनी स्वतन्त्र सीमाएं थीं । किन्तु इस काल के भारतीय जीवन को जहां देश की सनातन ऐतिहासिकता प्रभावित कर रही थी, वहीं ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध जन्म गए जैन-बौद्ध धर्म के ऐतिहासिक उभार भी प्रभावित कर रहे थे । इसी के समानान्तर अपने-अपने देवी-देवताओं, आराध्यों, आश्रयदाताओं, चरित नायकों के वर्णन के प्रति कवियों में जो मोह व्याप्त था, उसकी अभिव्यंजना का आधार संस्कृत के स्तोत्र और प्राकृत काव्य के परम्परागत सम्बद्ध था । साहित्य का यह स्वरूप अपनी परम्परा और परिस्थिति में पूर्णतया प्रशस्ति मूलक था । सिद्धों और सामन्तों की सांस्कृतिक भिन्नता के परिणामस्वरूप आदिकालीन काव्यधारा भी द्विमुखी हो गयी थी । दुधारी कविता में विवेच्य वस्तु का स्वरूप भले भिन्न रहा हो, केन्द्रिय भाव एक ही था — यशगान । ऐसी स्थिति में धर्म के साथ सामन्तीयता, सामाजिकता, राजनीति, साहित्य, संस्कृति, इतिहास, भूगोल सभी तत्व काव्य में प्रशस्ति तत्व को ही स्फुरित कर रहे थे ।

उक्त पंक्तियों में की गयी संक्षिप्त विवेचना से अर्थ यही निकलता है कि इस काल के काव्य में प्रशस्ति का स्वर ही अत्सम्भावी स्वर था । सिद्धों-नाथों का वर्ण्य विषय देवी शक्ति और उसकी वंदना तथा आराधना के रूप में सामने लाया जा रहा था तो "वीर गाथाओं का विषय प्रधान रूप से राजाओं का यशोगान था । उनका युद्ध कौशल, उनकी धर्म वीरता और उनके ऐश्वर्य का वर्णन ओजस्वी और शक्तिशालिनी भाषा में किया जाता था । अपने नायक की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए कवि विपक्षी की हीनता का नग्न चित्र अंकित करता था । कवि का आदर्श अधिकतर अपने चरित नायक के गुण वर्णन तक ही सीमित रहता था ।"[1] कहने का तात्पर्य यह कि 8वीं शती से लेकर 14वीं शती तक के 900 वर्ष के इतिहास में अपभ्रंश और डिंगल भाषा में लिखी गयी सिद्धों, नाथों और चारणों की रचनाएं अपनी समकालीन स्थितियों से सम्प्रेरित होकर प्रशस्ति की ही पगडण्डी पर उन्मुख थीं ।

1- डा० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : संस्करण 4: पृष्ठ - 266-67